आशा का संसार

ओशो के श्री चरणों में समर्पित

मा अमृत प्रिया

श्री रजनीश ध्यान मंदिर
कुमाशपुर–दीपालपुर रोड
जिलाः सोनीपत, हरियाणा 131021

 contact@oshofragrance.org

 www.oshofragrance.org

  Rajneeshfragrance
+91 7988229565
+91 7988969660
+91 7015800931

आशा का संसार

आदि शंकराचार्य के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'भज गोविंदम्' पर
टी.वी. चैनल पर दिए प्रथम 14 प्रवचनों का संकलन

कहां है आशा का संसार?

प्राचीन कहावत है कि आशा से आकाश टिका है। आकाश अर्थात् जो नहीं है, शून्य जगह। और आशा यानि जो नहीं है, उसकी उम्मीद। मन अपेक्षाएं संजोने में बड़ा कुशल है। हम जगत में जो देखते हैं, वे हमारे मन रूपी प्रोजेक्टर द्वारा प्रक्षेपित दृश्य हैं। जैसे प्रोजेक्टर से प्रदर्शित फिल्म पर्दे पर दिखती है। वैसे ही हम भी अपने मन के द्वारा प्रक्षेपित भावनाओं, कल्पनाओं, वासनाओं, सपनों को देखते हैं। यह स्वप्निल आशाओं का जगत ही मायावी 'संसार' है। आशा जननी है समस्त निराशाओं की, हताशाओं की, संतापों की। मिर्जा गालिब के शब्दों में यही है जिंदगी की दुखद कहानी-

उम्रे-दराज मांग के, लाए थे चार दिन
दो आरजू में कट गए, दो इंतिजार में।

ये आरजूएं, तमन्नाएं, धारणाएं, मान्यताएं रंगीन चश्मों का कार्य करती हैं। हमें वास्तविकता के सीधे सम्पर्क में नहीं आने देतीं। हमारा ज्ञान, पूर्वाग्रह, अनुभव, भय, संदेह, विश्वास, सोच-विचार का ढंग हमारी दृष्टि को लगातार अपने रंग में रंगता रहता है। 'जो है' वह हम नहीं देख पाते, क्योंकि 'जो नहीं है' उसमें उलझ जाते हैं। अतीत की स्मृतियां और भविष्य की इच्छाएं, दीवार-सी खड़ी होकर वर्तमान को आच्छादित कर लेती है। यथार्थ अनभिज्ञ रह जाता है। आशारूपी सपनों के पार जाने का उपाय है जागरण, ध्यान। सत्य द्वार है सच्चिदानंद का।

मैंने सुना है कि सेठ चंदूलाल और मुल्ला नसरुद्दीन प्रातः भ्रमण को जा रहे थे। सड़क के किनारे एक दरख्त पर बैठी चिड़िया ने आवाज की- चीं...चीं...चींचीं...! चंदूलाल ने कहा- 'लगता है कोई धार्मिक पक्षी है, राम-सिया-दशरथ का जाप कर रही है।' मुल्ला बोला- 'नहीं भाईजान, गौर से सुनो, चिड़िया अल्ला-खुदा-बरकत कह रही है।' दोनों में विवाद छिड़ गया। उन्होंने तय किया कि किसी तीसरे व्यक्ति से फैसला कराते हैं। थोड़ी देर बाद एक सब्जी बेचने वाला वहां से गुजरा। उन्होंने उससे पूछा कि बताओ यह पक्षी क्या उच्चारण कर रहा है? राम सिया दशरथ कह रहा है कि अल्ला खुदा बरकत? सब्जी वाला एक मिनिट ध्यान से सुनकर बोला- 'न तो चिड़िया राम सिया दशरथ जप रही है, न ही अल्ला खुदा बरकत। वह तो साफ-साफ आवाज लगा रही है- आलू प्याज अदरक, आलू प्याज अदरक।'

हमारे अर्धमूर्च्छित जीवन में न दृष्टि सम्यक् है, न श्रवण की क्षमता। सभी इंद्रियां प्रदूषित हैं। हम एक दुनिया के वासी नहीं, बल्कि अपने-अपने निजी संसार में जीते हैं। इस ड्रीम-वर्ल्ड से, दिवास्वप्न-लोक से जागने का आह्वान है, इन प्रवचनों में। संसार और परमात्मा, एक ही सत्य को देखने के दो ढंग हैं। पूर्ण जागृति में देखा गया संसार, परमात्मा है। बेहोशी में देखा गया परमात्मा, संसार है। आशा है मादक सुरा, माया की मां। इसी भ्रांत-संसार से मुक्ति का संदेश और उपाय है यह अनूठी पुस्तक।

ओशो के अमृत वचनों से शुभारंभ...

आशा समझ लेने की बात है। आशा है क्या? जो नहीं है, वह मिलेगा—इसकी भ्रांति। जो नहीं है, वह कभी होगा—इसका सपना आशा है।

और आशा से जागना क्या है? जो है, उसका बोध। जो है, उसके प्रति जाग जाने में आशा टूट जाती है। और जो नहीं है, उसकी मांग में आशा बनी रहती है। गरीब भी आशा में जीता है, अमीर भी आशा में जीता है।

सिकंदर भारत आता था, तो एक फकीर डायोजनीज से मिलने गया; क्योंकि उस फकीर की बड़ी चर्चा सुनी थी। और अनेक बार ऐसा हुआ है कि सम्राट भी ईर्ष्या से भर जाते हैं फकीरों से। वह डायोजनीज फकीर भी ऐसा था, महावीर जैसा नग्न ही रहता था। अनूठा फकीर था, हाथ में भिक्षा का एक पात्र भी नहीं रखता था। जब शुरू -शुरू में फकीर हुआ था तो एक पात्र रखता था। लेकिन फिर उसने एक दिन एक कुत्ते को पानी पीते देखा नदी में। उसने कहा, अरे मैं भी पागल हूं, यह पात्र नाहक ढोता हूं। कुत्ता बिना पात्र के पानी पी रहा है! कुत्ता हमसे ज्यादा समझदार है। और जब यह काम चला लेता है बिना पात्र के, तो हम आदमी होकर न चला पाएंगे? उसने पात्र वहीं फेंक दिया।

उसकी बड़ी खबर सिकंदर के पास पहुंचती थी कि वह परम आनंदित है। सिकंदर उससे मिलने गया। सिकंदर जब उसे मिलने गया तो डायोजनीज ने पूछा, कहां जा रहे हो?

सिकंदर ने कहा, एशिया मायनर जीतना है।

डायोजनीज ने पूछा, फिर क्या करोगे? और डायोजनीज लेटा था नदी की रेत में। सर्दी की ऐसी ही सुबह रही होगी, धूप ले रहा था। वह लेटा ही रहा, वह उठ कर बैठा भी नहीं। फिर क्या करोगे?

सिकंदर ने कहा, फिर भारत जीतना है।

डायोजनीज ने कहा, फिर?

सिकंदर ने कहा कि फिर और जो थोड़ी-बहुत दुनिया बचेगी, वह जीत लेनी है।

डायोजनीज ने कहा, और फिर?

सिकंदर ने कहा, फिर क्या, फिर आराम करेंगे।

डायोजनीज हंसने लगा, उसने कहा, आराम तो हम अभी कर रहे हैं। तुम तब करोगे? अगर आराम ही करना है, अगर आखिर में आराम ही करना है, तो इतनी दौड़-धूप किसलिए? आराम, देखो हम अभी कर रहे हैं। वह लेटा ही था। और

इस नदी के तट पर बहुत जगह है, कोई ऐसा भी नहीं कि जगह की कमी है, तुम भी आराम कर सकते हो, कहीं जाने की कोई जरूरत नहीं है।

सिकंदर निश्चित ही गहन रूप से प्रभावित हुआ था। झेंप गया क्षण भर को। बात तो सच थी। अंत में आराम ही करना है और अंत के आराम के लिए इतना इंतजाम कर रहा है। और डायोजनीज निश्चित आराम कर रहा है। यह कह भी नहीं सकते कि वह गलत बोल रहा है—वह आराम कर ही रहा है। और सिकंदर से ज्यादा प्रफुल्लित है, सिकंदर से ज्यादा उसका खिला कमल है। सिकंदर के पास सब कुछ है और भीतर कुछ भी नहीं। डायोजनीज के पास बाहर कुछ भी नहीं है और भीतर सब कुछ।

सिकंदर ने डायोजनीज से कहा कि तुम मुझे ईर्ष्या से भरते हो। अगर दुबारा मुझे कोई जन्म मिला तो परमात्मा से कहूंगा, मुझे सिकंदर मत बना, डायोजनीज बना दे।

डायोजनीज ने कहा, यह फिर तुम अपने को धोखा दे रहे हो। परमात्मा को क्यों बीच में लाते हो? अगर तुम्हें डायोजनीज बनना है, तो अभी बनने में कौन सी अड़चन है? मुझे अगर सिकंदर बनना हो तो अड़चन हो सकती है; क्योंकि सारी दुनिया जीत पाऊं, न जीत पाऊं; इतना फौज-फाटा इकट्ठा कर पाऊं, न कर पाऊं। लेकिन तुम्हें डायोजनीज बनने में क्या अड़चन है? कपड़े फेंक दो, विश्राम करो।

सिकंदर ने कहा, बात जंचती है, लेकिन आशा नहीं मानती। मैं आऊंगा, मैं जरूर लौट कर आऊंगा। लेकिन अभी तो मुझे जाना होगा, अभी तो यात्रा अधूरी है। तुम्हारी बात शत-प्रतिशत सही है।

यही मजा है। बात ठीक भी लगती है, फिर भी आशा खींचे चली जाती है!

कुछ दिन पहले, जापान में हुए एक बड़े कवि ईशा की कुछ पंक्तियां मैं सुना रहा था। उसकी पत्नी मर गई, बहुत दुख हुआ; फिर उसकी बेटी मर गई, बहुत दुख हुआ; और जब वह तैंतीस साल का था, तभी उसके पांचों बच्चे मर गए; वह अकेला रह गया। वह बड़ी पीड़ा में था और कवि हृदय था, कंप गया। यह दुख इतना क्यों है—पूछने लगा। सो न सके रात, दिन होश न रहे—बस एक ही बात पूछे कि इतना दुख क्यों है संसार में? और मैंने ऐसा क्या बुरा किया है? किसी ने कहा कि तुम मंदिर जाओ, मंदिर में एक फकीर है, शायद वह तुम्हारी समस्या हल कर दे। वह मंदिर गया। मंदिर के फकीर ने कहा, दुख क्यों है? यह बात ही व्यर्थ है। जीवन तो ओस की बूंद की भांति है—अब गया, तब गया। तुम भी जाओगे। पांच बच्चे गए, पत्नी गई, अब तुम समय खराब मत करो। जीवन तो घास के पत्ते पर

ठहरी ओस की भांति है—अभी गया, तभी गया। लौट आया ईसा घर। बात तो जंची। जीवन ऐसा ही है। उसने एक हाइकू लिखा, एक छोटी सी कविता लिखी। कविता है:

लाइफ इज ए डयू ड्रॉप

यस आई एम कनविंस्ड परफेक्टली—लाइफ इज ए डयू ड्रॉप

एंड यट, एंड यट...

निश्चित ही एक ओस-कण सा है यह जीवन

हां, मैं पूर्णत: सहमत हूं कि जीवन है एक ओस-कण

किंतु फिर भी, फिर भी...

यह 'फिर भी' आशा है। समझ में भी आ जाए, तो भी आशा समझने नहीं देती; बुद्धि भी पकड़ ले, तो भी प्राण से संबंध नहीं जुड़ता; विचार में झलक भी जाए, तो भी भावना में नहीं झलकता और आशा अपना जाल बुने जाती है।

आशा धागा है जिसके सहारे हम जीते हैं। बड़ा महीन धागा है, कभी भी टूट सकता है लेकिन टूटता नहीं। मजबूत से मजबूत जंजीर बन गया है। एक तरफ से टूटता है तो हम दूसरी तरफ से संभाल लेते हैं, अगर संसार से भी टूट जाता है तो हम मोक्ष की आशा करने लगते हैं, स्वर्ग की आशा करने लगते हैं, आशा जारी रहती है, आशा संसार से भी बड़ी है।

-ओशो ('भज गोविंदम्' नामक प्रवचनमाला से उद्धृत)

परमात्मा का भजन

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज हम जगतगुरु आदि शंकराचार्य जी के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'भजगोविंदम्' पर चर्चा शुरु करने जा रहे हैं।

उनका जन्म ईसा पश्चात् सातवीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने प्रस्थानत्रयी पर अनूठी व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसमें आते हैं- ब्रह्मसूत्र, ईशावास्योपनिषद और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता। जो भी संत इन तीनों की व्याख्या करता है- उसे जगतगुरु की उपाधि मिलती है और इसलिए हम उन्हें जगतगुरु शंकराचार्य के नाम से जानते हैं।

उनके पहले सूत्र से प्रारंभ करते हैं। आओ, इसको हम सब मिलकर साथ-साथ गाएं-

भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् मूढ़मते।
संप्राप्ते सन्निहिते काले न हि न हि रक्षति डुकृग्करणे॥

जब शंकराचार्य हमें मूढ़ कहकर संबोधन करते हैं, तो हमें सुनकर बुरा लगता है। हमें लगता है कि वे हमारी आलोचना कर रहे हैं, हमें कुछ निंदात्मक दृष्टि से, निकृष्ट दृष्टि से देख रहे हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। वे हमें बहुत प्रेम कर रहे हैं और उनकी आत्यांतिक करुणा उनसे हमारे लिए मूढ़ कहलवाती है। यह उनका प्रेम है, जो वे हमें मूढ़ पुकारते हैं। हम सोये हुए हैं, जन्मों-जन्मों से सोये हुए हैं और बिना चोट के हम जाग नहीं सकते। जब वे मूढ़ कहते हैं, तब उनका तात्पर्य है कि इस जगत में तीन प्रकार के लोग हैं।

पहला प्रकार है ज्ञानी का, जिसे आत्मज्ञान हो गया है। जो परमात्मा को जानता है। जो सत्य को जानता है। जिसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है।

दूसरा वर्ग है अज्ञानी का। अज्ञानी कौन है? जो स्वयं को नहीं जानता। स्वयं के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता। सत्य से परिचित नहीं है। सत्य का साक्षात्कार नहीं है। और वह ऐसा जानता है कि वह नहीं जानता है।

तीसरा वर्ग है मूढ़ों का, जो नहीं जानते हैं मगर मानते हैं कि वे जानते हैं। कुछ ऐसा समझो कि जैसे कोई बगीचे में जाए और बगीचे में जाकर सुंदर दृश्य देखे, वर्णन करे कि ऐसे रंग-बिरंगे खुबसूरत फूल थे वहां। बड़े-बड़े पेड़ थे। प्यारा झरना था। मधुर आवाज में चिड़ियां बोलती थीं। और शीतल हवाएं थीं। पूरा वर्णन किया उसने, लेकिन क्या वह वर्णन हमें अनुभव दे सकेगा? क्या यह हमारा ज्ञान

बनेगा? किसी काम आयेगा? नहीं आ सकता। ऐसा ही शास्त्र का ज्ञान है। कहने वाले ने जाना था, जानकर अपने अनुभव से बोला था, किसी ने लिखा था। लेकिन वह हमारे किस काम का है?

भोजन की चर्चा भूख नहीं मिटाती और अमृत की चर्चा काम न आएगी, जब हमारी मौत आयेगी। हम सबने सुना है–

'नैनं छिदंति शस्त्राणी, नैनं दहति पावकः'

शस्त्र हमारे शरीर को छेद नहीं सकते। अग्नि हमारे शरीर को नहीं जला सकती। फिर भी जब हमारी मौत आती है तो हम क्यों भयभीत होते हैं? जरा सा मौत का कारण दिखता है, कोई बीमारी आ जाती है, लोग कंप जाते हैं। कितना भी शास्त्रज्ञान रटकर बैठे हों, मौत की संभावना डरा देती है। क्यों? क्योंकि यह हमारी अपनी संपदा नहीं है। यह हमारा अपना ज्ञान नहीं है।

कागज पर लिखे पानी से प्यास कहीं बुझती है?

क्या पाक-शास्त्र पढ़ने से भूख कभी मिटती है?

सूरज के चित्र से तो माटी का दीया अच्छा।

टिमटिमाता है लेकिन, आलोक देता सच्चा।

कम से कम चार कदम राह तो दिखाता है।

भला पेंटिंग का सूर्य कहीं अंधेरा मिटाता है?

बड़े से बड़े चित्रकार द्वारा निर्मित कितनी भी मंहगी सूर्य की पेंटिंग घर में रख लो, अंधेरा कभी नहीं मिटेगा। लाखों रुपयों के इस चित्र से बेहतर एक रुपये का सस्ता सा दीपक, वह अंधेरा तो मिटाएगा!

शंकराचार्य जब किसी गांव से गुजर रहे थे, उस वक्त उन्होंने एक बूढ़े को शास्त्र की रटन करते देखा। शास्त्र को दोहराते देखा। उन्हें करुणा आई, तब उन्होंने ये वचन कहे हैं। मौत के कगार पर खड़ा है, मौत घेरे खड़ी है उसे, अब मरा कि तब मरा; लेकिन उसे भ्रम है कि वह जानता है।

शास्त्र का ज्ञान हमारे साथ जा नहीं सकता। क्यों? क्योंकि इसकी जानकारी हमारे दिमाग में संग्रहीत है। और दिमाग तो खुद मृत्यु में नष्ट हो जायेगा। मस्तिष्क तो स्वयं मर जाएगा। तो यह शास्त्र ज्ञान कैसे जायेगा साथ में? शास्त्र ज्ञान शाब्दिक ज्ञान है। शब्द दूसरों के संग संवाद के लिए ठीक हैं, अपने लिए नहीं। दूसरों से जुड़ने के लिए भाषा उपयोगी है, लेकिन स्वयं से जुड़ने के लिए मौन चाहिए। क्या कभी हम

निःशब्द होकर सजग बैठे हैं? क्या कभी हमने मौन में स्वयं के भीतर अपनी जीवन-ऊर्जा का निरीक्षण किया है? कभी नहीं लौटाई है, हमने स्वयं पर अपनी शक्ति। क्यों? क्योंकि हम शब्दों और विचारों में उलझे रहते हैं। विचारों की वजह से 'हम जानते हैं', हमने ऐसा भ्रम पाल लिया है। और ऐसा भ्रम पालकर हम कई लोगों को राह भी दिखाते हैं। ऐसे मार्गदर्शकों के विषय में संत कबीर ने कहा है-

'अंधा-अंधा ठेलिया, दोउ कूप पडंत।'

ये जो मूढ़ किस्म के लोग हैं, अत्यंत खतरनाक हैं। खुद गड्ढे में गिरेंगे, और अनेक लोगों को गिराएंगे। जो ज्ञानी है वह तो बहुत विनम्र होता है। वह कहता है- मैंने जब से जाना, तब से यह जाना कि मैं कुछ नहीं जानता।

महान वैज्ञानिक एडिशन से किसी ने कहा कि- 'आप तो बहुत जानते हैं।' एडिशन ने क्या कहा मालूम है? ऐडिशन ने कहा कि मेरी हालत कुछ ऐसी है- जैसे की सागर के किनारे कोई बच्चा खड़ा हो और मुठ्ठियों में सीप आदि इकट्ठा कर लिया हो। भला मुठ्ठियों में कितनी सीप आयेंगी? कितने शंख आयेंगे? पूरा सागर पड़ा है—अनजाना, न जाने कितनी गहराईयों में कितने मोती छिपे हैं! ऐसी मेरी हालत है। जो ज्ञानी हैं, वे सदा विनम्र हैं। और जो अज्ञानी है, वह तो जानता ही है कि मैं नहीं जानता, इसलिए वह भी विनम्र है, उसके भीतर ज्ञान की संभावना है। वह शास्त्र के मानसिक बोझ को हटाकर, शास्त्र-रटंत से हटकर, मौन में डूब जा सकता है सत्य की खोज के लिए। उस द्वार पर जा सकता है, जहां सत्संग हो रहा है सत्य की तलाश में।

लेकिन मूढ़ का कोई भविष्य नहीं है। मूढ़ सोचता है कि मैं तो जानता ही हूं। शंकराचार्य कहते हैं कि शास्त्र नहीं काम आयेगा तो क्या काम आयेगा? हे मूढ़! गोविंद को भजो। भजन पर जोर दे रहे हैं। यह भजन क्या है? भजन के नाम पर हम जानते हैं उन लोगों को जो मिलकर राम-राम रटते हैं। 'गोविंद बोलो, गोपाल बोलो' कीर्तन करते हैं। मस्ती में डोल रहे हैं। सड़क पर नाच रहे हैं। ढोल बजा रहे हैं और मंदिर में नाच रहे हैं। जब वे भीड़ को देखते हैं तो और जोर से उनका प्रदर्शन आरंभ हो जाता है। दूसरों को दिखाने के लिए भजन-कीर्तन चल रहा है। लोगों को देखो तो वे प्रार्थना कर रहे हैं, कुछ पाने के लिए। हे प्रभु! मेरी नौकरी लग जाए। मेरा बेटा हो जाए, कि पत्नी की तबियत ठीक हो जाए। अपने कामनाग्रसित मन से भजन कर रहे हैं। यह भी सच्चा भजन नहीं है, एक प्रकार का भिक्षारटन ही है। फिर भजन क्या है? एक छोटे से उदाहरण से बहुत अच्छे से समझ में आ जाएगा-

एक मां है और उसका एक बच्चा है, बच्चा कहीं खेल रहा है और मां भी काम कर रही है; लेकिन निरंतर मां को बच्चे का ख्याल बना हुआ है। बच्चे ने कहीं ऐसा कुछ हाथ में तो नहीं ले लिया, जिससे उसको चोट लग जाए। ऐसी जगह तो नहीं चला गया, जहां से वह गिर जाए। ऐसी किसी संगत में तो नहीं चला गया, जहां उसको कुछ नुकसान हो जाए। खाना भी बन रहा है, काम भी हो रहा है, लेकिन बच्चे की निरंतर सुधि बनी हुई है। वह बच्चे का नाम नहीं बोल रही है– गोपाल, गोपाल। कि गोविंद, गोविंद। कीर्तन नहीं कर रही है कि– पप्पू, पप्पू, मुन्ना, मुन्ना। मां बच्चे का नाम नहीं रट रही है। परंतु लगातार एक याद की धारा बनी हुई है, शब्द रहित सतत धारा। ऐसे ही जब निरंतर परमात्मा का स्मरण भीतर बना रहे, एकरस चलता रहे चौबीस घंटे, तो वह भजन है, वह कीर्तन है।

जलालुद्दीन रूमी की यह कथा तुम्हें संकेत देगी। एक बाजार से निकलते हैं वे और उस बाजार में सुनारों और लोहारों की दुकानें हैं। वहां पर लगातार खट, खट, खट की आवाज चलती रहती है। सुनारों का काम चलता है खट-खट। हथोड़ियों की आवाजें लगातार आ रही हैं। लेकिन उन हथोड़ियों की आवाजों में से जलालुद्दीन को क्या सुनाई देता है- अल्लाह, अल्लाह, अल्लाह! और उसके भीतर एक रिदम, एक धुन बंध जाती है और उस रिदम में जलालुद्दीन रूमी नाचने लगता है। गोल-गोल घूमने लगता है। आनंद मग्न नाचते-नाचते छत्तीस घंटे गुजर जाते हैं और वहीं पर वह गिर जाता है और वहीं पर उसे आत्मज्ञान हो जाता है। इस तरह दरवेश नृत्य की शुरुआत हुई।

कैसे अल्लाह, अल्लाह सुनाई दिया उसे? भीतर जो अंतर्धारा चल रही है, हर तरफ से उसी की आवाज आती है। हर ओर उसे उसी की आवाज सुनाई पड़ती है। पत्तियां हवाओं में डोलती हैं, पेड़ झूमते हैं तो उसकी याद आती है। चिड़िया बोलती है तो उसकी आवाज सुनाई देती है। कोयल कूकती है तो भीतर कुछ कौंध जाता है उसके जिक्र का। झरने झर-झर बहते हैं तो फिर उसकी याद आ जाती है। बाहर कुछ भी दिखाई दे, कोई रूप दिखाई दे, कोई सौंदर्य दिखाई दे, उसकी ही याद से भर जाते हैं। इसे भजन कहते हैं। ऐसा भजन हमारे अंतिम समय काम आता है। मौत के समय यह मृत्यु-भय से मुक्त करता है और आगे यात्रा में महाजीवन की ओर ले जाता है।

भजन के लिए मुझे इस गीत की पंक्तियां बहुत अच्छी लगती हैं। आप सब इसके भाव में डूबेंगे और गुनगुनाएंगे–

फिर सावन ऋतु की पवन चली, तुम याद आये
फिर पत्तों की पाजेब बजी, तुम याद आये
फिर गूंजें बोलीं घास के हरे समंदर में
ऋतु आई पीले फूलों की, तुम याद आये
फिर सावन ऋतु की पवन चली, तुम याद आये
जब दीवारों से धूप ढली, तुम याद आये
फिर कागा बोला, घर के सूने आंगन में
फिर अमरित रस की बूंद पड़ी, तुम याद आये
फिर सावन ऋतु की पवन चली, तुम याद आये

आओ, इस सूत्र संदर्भ में ओशो क्या बोलते हैं, हम उनकी अमृत वाणी सुनते हैं–

'हे मूढ़! गोविंद को भजो।' 'भजना' इसे भी समझ लेना जरूरी है। क्योंकि तुम्हें भजन करते लोग मिल जाएंगे और भजन वे नहीं कर रहे हैं। उनका भजन भी ऊपर-ऊपर है। मनोरंजन होगा शायद, जीवन को दांव पर नहीं लगाया है। मजा ले रहे हैं ये शायद; किसी और गीत से भी इतना मजा मिल सकता था। किसी और संगीत में भी इतनी ही खुशी हो सकती थी। लेकिन भजन का अर्थ है- तुम्हारे पूरे प्राणों से कोई आह उठती है। तुम्हारे पूरे प्राणों से कोई आवाज उठती है। तुम्हारे पूरे प्राण दांव पर लगे हैं। जैसे जीवन-मरण का सवाल हो। गोविंद को भजना हो तो खुद को गंवाना जरूरी है। खुद को बचाना चाहा और गोविंद को भजना चाहा तो तुम अपने को ही धोखा दोगे। भजन की बड़ी आत्यांतिकता है। रामकृष्ण को कोई राम का नाम भी लेता था, सिर्फ नाम... रास्ते पर चलते वक्त, शिष्यों को ख्याल रखना पड़ता कि कोई जय रामजी न कर ले, कोई अजनबी आदमी जय रामजी कर ले तो वे वहीं खड़े हो जाते। भावाविष्ट हो जाते थे। हर्षोन्माद हो जाते। नाचने लगते बीच सड़क पर। शिष्यों की बड़ी फजीयत हो जाती। पुलिस वाला आ जाता कि हटाओ यहां से, ये क्या माचाया हुआ है? किसी के शादी-विवाह में कोई निमंत्रण कर लेता तो दूल्हा-दुल्हन पीछे हो जाते। किसी ने ऐसे नाम ले दिया, एक मित्र के घर बुला लिया था लोगों ने। बुला लिया कि शादी में आशीर्वाद दे देंगे। लड़की की शादी का समारोह था। शादी होने के ही करीब थी कि किसी आदमी का नाम गोविंद था और किसी ने बुलाया गोविंद को कि गोविंद कहां है? भीड़-भाड़ थी और उसने जोर से चिल्लाया गोविंद कहां है? रामकृष्ण नाचने

लगे। गोविंद का भजन शुरु हो गया। वह बारात, बारात न रही। विवाह, विवाह न रहा। एक दूसरा ही समा बंध गया।

भजन का अर्थ है- चौबीस घंटे तुम्हारे भीतर एक सतत धारा प्रभु स्मरण की बनी रहे। वह सतत धारा थी भीतर, इसलिए बाहर अगर कोई जरा भी राम का, कृष्ण का, गोविंद का, परमात्मा का नाम ले लेता, भीतर तो धारा मौजूद ही थी। भीतर तो नाद चलता ही था। बाहर की चोट पड़ जाती तो भीतर का नाच बाहर बिखर जाता। भीतर चोट पड़ती वह जो भीतर चल रही थी धारा वह बाहर आ जाती। जैसे—जल तो भरा ही था कुंए में, किसी ने बाल्टी डाल दी और पानी भर के बाहर आ गया। किसी ने राम का नाम ले दिया, भजन तो चल ही रहा था, भजन कोई ऐसी चीज नहीं है, कि तुम कभी कर लो। जब भजन शुरु होता है तो अंत नहीं होता। चलता ही रहता है। एक सतत स्मरण है भीतर।

हे मूढ़! गोविंद को भजो। क्योंकि अंतकाल के आने पर व्याकरण की रटन तुम्हारी रक्षा न करेगी।'

शंकराचार्य कहते हैं– भज गोविंदम् मूढ़मते। गोविंद को जब हम भजने जाएं तो कैसे भजें?

नाम ही नाम ले लिया, जानते उसे वाकई नहीं।

कहते हो बस खुदा-खुदा, देखा उसे कभी नहीं।

ऐसे खुदा की बंदगी कुफ्र है, बंदगी नहीं।

खाली जो गुजरे एक नफ़ज, मौत है जिंदगी नहीं।

गोविंद को जानना होगा और गोविंद को जानने के लिए किसी संत के पास जाना होगा। सत्संग में जाना होगा और तभी भजन की शुरुआत हो सकती है।

मैं सबके लिए यही मंगलकामना करती हूं कि सबके जीवन में उस गोविंद का आगमन हो। गोविंद से प्रीति जागे और इस जीवन का उद्देश्य सफल हो सबका। भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

तृष्णा-शून्य सद्बुद्धि

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

हे मूढ़, धन बटोरने की तृष्णा को छोड़ो; सद्बुद्धि को जगाओ और मन की तृष्णा-शून्य करो तथा उसी से संतुष्ट और प्रसन्न रहो, जो अपने श्रम से मिलता है। हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो। ऐसा शंकराचार्य कहते हैं।

मूढ़ जहीहि धनागम तृष्णां कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम्।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्॥

तृष्णा है, और-और की मांग। तृष्णा है संग्रहवृत्ति की बीज, शंकराचार्य जब कहते हैं कि धन बटोरने की तृष्णा को छोड़ो तो लोगों ने समझा की धन को छोड़ो। शंकराचार्य जी धन के खिलाफ नहीं हैं। धन के उपयोग के खिलाफ नहीं हैं। धन तो साधन है। जब तक शरीर है धन चाहिए, भोजन चाहिए, कपड़ा चाहिए, मकान चाहिए। लोगों ने बात का गलत अर्थ लिया और चले गए धन छोड़कर जंगल की ओर। लेकिन जंगल जाओगे तब भी शरीर है, तब भी मकान चाहिए, तब भी भोजन चाहिए, तब भी आवश्यकताएं हैं। दवाइयां चाहिए कहां से लाओगे? दूसरे लोग जो कमा रहे हैं, जो धनोपार्जन कर रहे हैं, उनसे लोगे, किसी और तरीके से प्राप्त करोगे। लेकिन धन की जरूरत तो रहेगी न, और सदा रहेगी जब तक शरीर है। तो साधन के खिलाफ कैसे हो सकते हैं? धन के उपयोग के खिलाफ शंकराचार्य नहीं हैं। वे खिलाफ किसके हैं- बटोरने की वृत्ति के, संग्रहवृत्ति के, और संग्रहवृत्ति के क्यों खिलाफ हैं? संग्रहवृत्ति हमें वर्तमान से तोड़ती है। धन आज जितना है, उससे और अधिक चाहिए, कल और होगा, परसों और ज्यादा होगा। इस तरीके से कामना प्रजेंट में नहीं जीने देती, वर्तमान से तोड़ देती है। भविष्य में और-और परिग्रह की यह तृष्णा दुष्पूर है, मृगमरीचिका है।

बुद्ध ने कहा है : तृष्णा की कभी पूर्ति नहीं होती, कभी हमें तृप्ति का अहसास ही नहीं होता। और-और की मांग लगी ही रहती है। सुनो यह गीत-

जाने किसकी तलाश जारी है, क्या खूब ख्वाइश हमारी है।

किसी सिंदूर से कभी न भरी, मांग उम्मीदों की सदा कुंवारी है।

पाया कितना मगर ये खाली रहा, दिल इक जादू की पिटारी है।

इस भरी दुनिया में जिससे भी मिले, वही इंसान एक भिखारी है।

याद रखना, गरीब केवल वही नहीं है जिसके पास धन नहीं है, या खर्च करने की क्षमता नहीं है। जिसके पास बांटने की क्षमता नहीं, कितना भी धनी होकर वह

दरिद्र ही रहता है।

इस भरी दुनिया में जिससे भी मिले, वही इंसान एक भिखारी है।

पैर तो थक के चूर-चूर हुए, अब मेरी उम्मीदों की बारी है।

तृष्णा की तलाश में, बटोरने के चक्कर में ये पैर थक गए, जिंदगी थक गई, लेकिन उम्मीदें कहां थकती हैं, क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है। क्षितिज मिलता ही नहीं, कितना भी चलो!

ऐलिस की कहानी तो सबने सुनी होगी... ऐलिस आश्चर्य लोक में पहुंच जाती है। वंडरलैंड में वह जब पहुंचती है तो दिनभर की भूखी है, प्यासी है। वहां परियों की महारानी से मुलाकात होती है। ऐलिस पानी मांगती है, परी कहती है कि पानी ही क्यों बेटी, बिस्कुट लो, केक लो, फ्रूट लो, चाकलेट भी लो। जब परी सब चीजें सामने ले आती है तो ऐलिस बहुत खुश हो जाती है। चलती है, हाथ बढ़ाती है, लेकिन सब-कुछ दूर हो जाता है। महारानी से कहती है कि यह सब तो खिसक गया। महारानी कहती है: बेटी कुछ कदम और चलो। वह चलती है। फिर दूर हो जाती हैं सारी सामग्री। उसके बाद महारानी कहती है- चलने से काम नहीं चलेगा बेटी, अब तो दौड़ो तुम, दौड़ने से मिल जाएगा। ऐलिस दौड़ती है और थक के चूर चूर हो जाती है, अब गिरी कि तब गिरी! कहती है एलिस- महारानी यह कैसी विचित्र जगह है, यहां सारा सामान मौजूद है, लेकिन मेरे हाथ तो कुछ आता नहीं? कैसा आश्चर्यलोक है यह?

महारानी हंसकर कहती है- बेटी तुम जहां से आई हो वह कौन सा आश्चार्य लोक नहीं है! वहां कैसे लोग दौड़ते हैं- साठ, सत्तर, अस्सी और नब्बे-नब्बे सालों तक लोग दौड़ते हैं, धन-सामग्री, यश-प्रतिष्ठा पाने को, फिर भी हाथ कुछ नहीं आता। और तब भी समझ नहीं आती और सारी जिंदगी निकल जाती है। कब्र के कगार पर खड़े हो जाते हैं लोग, लेकिन अक्ल नहीं आती। भीतर एक खालीपन है, जिस भरने के लिए हम दौड़ रहे हैं, धन से शायद खालीपन भर जाए, आंतरिक अतृप्ति का एहसास मिट जाए इसलिए हम धन के दीवाने हैं। कभी कोई इस मनोवैज्ञानिक कारण को नहीं समझना चाहता है कि हम धन क्यों पकड़ते हैं? हमारी आवश्यकता कितनी है? कभी इस पर प्रश्न चिह्न नहीं उठता। यह कैसी बुद्धि है!

शंकराचार्य कहते हैं : धन बटोरने की तृष्णा को छोड़ो। सद्बुद्धि को जगाओ। सद्बुद्धि क्या है? जिस दिन समझ में आ जाए कि हमारी आवश्यकता कितनी है, शरीर को कितना चाहिए, हमारे लोगों को कितना चाहिए, और हमारी जिंदगी

कितनी है, इस जिंदगी में हमें कुल धन कितना चाहिए, तो फिर हम क्यों बटोर रहे हैं? कल की फिक्र में आज क्यों खो रहे हैं? इस वर्तमान के मूल्यवान समय में हम परमात्मा से वंचित रह रहे हैं। यह धन जो कि मृत्यु के बाद चला जाएगा, उस धन को पाने के लिए पूरी जिंदगी व्यर्थ कर रहे हैं। और जिस जिंदगी में हम परमधन इकट्ठा कर सकते थे, राम रतन धन प्राप्त कर सकते थे, जो कि हमारे साथ मृत्यु के बाद भी जाता, उस संपदा की किसी को फिक्र ही नहीं है। इसलिए शंकराचार्य कहते हैं: कि हे मूर्ख, सद्‌बुद्धि को जागाओ।

सद्‌बुद्धि क्या है? हम संसार में कुशल हैं, व्यवहार में कुशल हैं, हम सामान और सम्मान इकठ्ठा करने में कुशल हैं। लेकिन वास्तविक सद्‌बुद्धि है: परम-ऐश्वर्य को, ईश्वर को कैसे उपलब्ध करें। राम रतन धन कैसे पाएं, कैसे अपना जीवन इस शुभ कार्य में लगायें, यह सद्‌बुद्धि है। समझ में आ जाए कि जो मौत के पार भी साथ जाएगा, उसका ध्यान घटित हो जाए। हमारे जीवन में परमात्मा अंतिम है अगर हम मूढ़ हैं तो। और हमारे जीवन की फेरिस्त में परमात्मा प्रथम नम्बर पर है, अगर हम विवेकवान हैं, प्रज्ञावान हैं।

संत सुन्दरदास जी की वाणी सुनें–

'मेरी मेरी करत है, देखहु नर की भोल।

फिरि पीछे पछिताहुगे, सो हरि बोलौ हरि बोल।।

किये रुपइया एकठे, चौकूंटे अरु गोल।

रीते हाथिन वै गये सो, हरि बोलौ हरि बोल।।'

बड़े-बड़े सिकंदर और हिटलर, बड़ी-बड़ी हस्तियां कितना भी कमा लेते हैं लेकिन अंततः खाली हाथ ही जाते हैं। कबीर और रैदास जैसे लोग, जो बाहर से खाली दिखते हैं, लेकिन वे भीतर से भरे हाथ जाते हैं। कैसे हम भी उन जैसे तृप्त हों, कैसे हम बाहर के धन से अपने आप को भरना भूल जाएं? इसके लिए तृष्णा को शून्य करो। तृष्णा मिटती है सद्‌बुद्धि जगाने से। प्रज्ञापूर्वक अपनी जरूरतों को समझो कि हमारी आवश्यकता कितनी है और वासना कितनी है। एक विभाजन रेखा खींचो नीड और ग्रीड में, यही सद्‌बुद्धि है। उसी से संतुष्ट रहो जो तुम्हारे श्रम से मिलता है। याद रखना, संतुष्टि उसी से मिलती है जो हमें अपने श्रम से मिलता है, चाहे वह धन के मामले में हो, चाहे वह परमधन के मामले में हो।

आइए इस सूत्र-संदर्भ में ओशो के अमृत-वचन सुनें–

'हे मूढ़, धन बटोरने की तृष्णा को छोड़ो। बटोरने की ही तृष्णा को छोड़ो,

बटोरने का इतना पागलपन क्यों है? मैं एक घर में रहता था। उस घर के जो मालिक थे बटोरने के शुद्ध अवतार थे। कोई भी चीज जो व्यर्थ हो गई, उसे भी संभाल कर रख लेते। उनका घर एक कवाड़खाना था। उसमें यह कैसे जीते थे, यह बड़ा मुश्किल था, कैसे रहते थे, यह बड़ा मुश्किल था। एक दिन मैं सामने बगीचे में खड़ा था। वह मुझसे बात कर रहे थे और उनका छोटा लड़का, एक टूटी बुहारी जो किसी काम की नहीं, सिर्फ पिछली डंडी बची थी, उसे बाहर फेंक गया। तत्क्षण मैंने देखा की वह बेचैन हो गए, मुझसे बात चलती रही पर नजर उनकी उस बुहारी पर लगी रही। मैंने सोचा कि मेरी मौजूदगी उनको बाधा बन रही है। तो मैंने कहा- मैं अभी आया, घर के भीतर गया और वापिस लौटा तो बुहारी नदारद थी, वह भी नदारद थे। वह ले गए उसे भीतर। मैं उनके पीछे ही गया। मैंने कहा- अब बात जरा सीमा के बाहर हो गयी। रंगे हाथ वह पकड़े गए हाथ में बुहारी लिए, अन्दर खड़े थे। मैंने पूछा कि यह किसलिए उठा लाए? उन्होंने कहा : कुछ नहीं, कभी काम पड़ जाए। इसका कुछ काम भी नहीं समझ में आ रहा। वह कहने लगे, पता नहीं कभी क्या काम पड़ जाए! क्या पता, फिर फेंकने से फायदा क्या, रखी रहेगी।

बटोरने की एक आदत है। क्यों आदमी बटोरना चाहता है? भीतर एक बड़ा खालीपन है, उसे भरना है। किसी भी चीज से भरना है, नहीं तो आदमी बहुत खाली लगेगा। तुम थोड़ा सोचो कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं, तुम्हें भीतर बड़ा खालीपन लगेगा। यहां ध्यान में रोज मेरे पास मित्र आते हैं, थोड़े दिन ध्यान करते हैं, महीने दो महीने तो भीतर खालीपन दिखाई पड़ने लगता है, वह है तो सदा, ध्यान नहीं किया तो दिखाई नहीं पड़ता था। ध्यान करने से बोध थोड़ा जगता है, होश थोड़ा आता है, भीतर कुछ खालीपन दिखने लगता है। और एक अनूठी घटना घटती है, जिस व्यक्ति को भी भीतर खालीपन दिखाई पड़ता है, वह अतिशय भोजन करना शुरु कर देता है। रोज एक दो मामले मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि हम क्या करें? यह क्या हुआ, इतना भोजन तो हम कभी भी नहीं करते थे, ध्यान ने तो हमें बड़ी मुश्किल में डाल दिया है। बस भोजन की ही धुन सवार रहती है। तो मैं उन्हें कहता हूं कि कारण है। कारण यह कि ध्यान ने तुम्हें भीतर की रिक्तता दिखाई। अब रिक्तता को भरना है, रिक्तता काटती है, कुछ भी नहीं है भीतर, आदमी कुछ भरना चाहता है, धन से, पद से, प्रतिष्ठा से तुम अपने को भरते हो। चारों तरफ चीजें इकट्ठी कर लेते हो, उनके बीच बैठ जाते हो निश्चिंत होकर, लगता है कुछ तुम्हारे पास है।'

एक बात और स्मरण रखना; जब हम बाहरी धन भी अपने श्रम से कमाते हैं, तभी प्रसन्नता आती है जीवन में। अपनी मेहनत से जो हाथ में आता है, उससे प्रफुल्लता मिलती है। ठीक ऐसे ही जो उधार ज्ञान हम शास्त्र से इकट्ठा कर लेते हैं, दूसरों से सुनकर स्मृति में संग्रह कर लेते हैं, और सोचते हैं इससे हमें आनंद मिलेगा। नहीं। दूसरे के ज्ञान से कभी आनंद नहीं मिलता, स्वयं के ही आत्म-अनुभव से, ध्यान से हमें आनंद मिलता है। दूसरों ने अपने अनुभवों की बातें बता दीं और हम सोचने लगे कि यह हमारी संपत्ति है, तो हम भूल में हैं। वह हमारे काम नहीं आएगी।

हमने अपने ध्यान में जो डुबकी लगाई है, जो अंतर्तम में गहराईयां छुई हैं, वह भीतर प्राप्त आत्मज्ञान ही आनंद देगा। तब जीवन भरा-भरा होगा। रिक्तता मिटेगी। खालीपन भरने की विक्षिप्त दौड़ खत्म होगी। भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

संसार, अहंकार और ओंकार

4

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज हम शंकराचार्य जी के अगले सूत्र पर चर्चा करने जा रहे हैं-

नलिनीदलगतजलमतितरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।
विद्धि व्याध्यभिमानग्रस्तं लोकं शोकहतं च समस्तम्।।४।।

अर्थात् कमल के पत्ते पर जैसे तरल और अस्थिर होता है जल, वैसे ही यह जीवन अतिशय चपल और अस्थिर है। यह ठीक से समझ लो कि संसार अहंकार के रोग से ग्रस्त है और दुख से आहत। अत: हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।

यह संसार एक प्रवाह है, सतत् प्रवाह है जैसे कि कोई नदी बह रही है। प्रसिद्ध यूनानी संत हैराक्लाइटस का एक अनूठा वचन है, कि तुम एक ही नदी में दुबारा पैर नहीं रख सकते। सब कुछ बदल रहा है। ओशो ने इस वचन में और प्यारा-सा संशोधन कर दिया कि तुम एक नदी में एक बार भी नहीं उतर सकते। जब तुम्हारा पैर सरिता के ऊपरी जल को स्पर्श कर रहा है, तब तक नीचे का पानी बह गया। जब पैर गहराई में पहुंचा तब तक सतह का जल प्रवाहित हो गया। फिर अकेली नदी ही नहीं, इस बीच तुम भी परिवर्तित हो गए। तुम्हारे भीतर रक्त प्रवाहमान है, सांस आ-जा रही है, विचार और भाव बह रहे हैं।

इस परिवर्तनशील जगत में प्रेमी-प्रेमिका का जब तक विवाह हो पाता है, प्रेम समाप्त हो जाता है। जैसे कोई नदी के लिए नाव बनाए; लेकिन जब तक नाव बने, नदी ही सूख जाए। लोग घर बनाते हैं रहने के लिए लेकिन जब तक घर बनता है लोग विदा हो जाते हैं। हम एक क्षणभंगुर संसार में अपना महल बनाते हैं, रेत के ढेर पर अपनी नींव रखते हैं और बस हवा का थोड़ा सा झोंका आता है कि महल ढह जाते हैं।

संत कहते हैं कि यह संसार क्षणभंगुर है, सभी को मालूम है, सबका अनुभव यही कहता है लेकिन फिर भी इस संसार में इतना रस आता है। रस का कारण क्या है? जानना होगा कि हमें संसार में क्यों इतनी उत्सुकता एवं आसक्ति है। क्षणभंगुर चीजों में अहंकार को रस आता है, अहंकार को चैलेंज मिलता है। अहंकार से वशीभूत होकर हम चीजों को हासिल करने की कोशिश करते हैं लेकिन वे हाथ में आती नहीं है और उसी के कारण हमें दुख होता है। अत: सारा संसार दुखी है।

अहंकार कहता है कि वे कठिन चीजें जो संभव नहीं हैं, उन्हें प्राप्त करो। सरल-सहज में क्या रक्खा है! मुश्किल से जो मिले, वही पाने योग्य है। कष्ट सह-सहकर वे वस्तुएं प्राप्त तो हो जाती हैं लेकिन हाथ में आते ही फिसल जाती हैं और फिर दुखी होना पड़ता है। पहले पाने में कष्ट, फिर खोने में आंसू। बस ऐसी ही मुसीबत में सारा संसार ग्रस्त, व्यस्त और त्रस्त है। इस दुष्चक्र से कैसे बाहर आएं? हमें इस संसार का स्वभाव समझना होगा।

कबीरदास जी की इन अद्‌भुत पंक्तियों से सूक्ष्म समझ पैदा होगी, विवके जन्मेगा। सुनो-

रहना नहीं देश बेगाना है।
ये संसार कागज की पुड़िया बूंद पड़े घुल जाना है।
ये संसार कांटों की बाड़ी उलझ-उलझ मर जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है।
रहना नहीं देश बेगाना है।।

हम जहां निवास बना रहे हैं वहां कभी आवास नहीं बन पाता। इस तथ्य को देखकर कुछ लोगों ने सोचा जहां घर नहीं बसता, जहां रिश्ते नहीं बनते उस संसार में क्या रहना? और इससे मुक्ति पाने के लिए वे लोग जंगल चले गए, वैराग्य व विरक्ति-भाव से भर गए। लेकिन पर्वत या गुफा में बैठकर भी अहंकार की साधना न छोड़ी। अहंकार का रोग यानि कठिन में रस कायम रहा। क्षणभंगुर में, व्यर्थ में रस बरकरार रहा। उन चीजों को छोड़ने में लग गए, त्यागने में उलझ गए। जिसे मृत्यु छीन लेगी, वह तुम्हारा है ही नहीं, उसे छोड़ना भी क्या! वह तो छूटा ही हुआ है।

संसारी पकड़ रहा है क्षणभंगुर चीजों को और त्यागी छोड़ रहा है उन्हें, मगर दोनों का केन्द्र बिन्दु एक ही है। इसलिए भोगी और त्यागी, दोनों दुख-मुक्त नहीं हो सकते।

हमें खोज करनी होगी कि क्षणभंगुरता में छिपी शाश्वतता कैसे मिले? जैसे हमारा शरीर है, तो इसी क्षणभंगुर देह में चेतना का निवास है उसकी तलाश करो। जैसे चाक घूमता रहता है लेकिन जो कील है वह बीच में स्थिर रहती है ऐसे ही इस क्षणभंगुर संसार में गौर से खोजोगे तो सनातन स्थिरता मिल जाएगी।

शंकर उसी ओर इशारा करते हैं– भज गोविंदं, भज गोविंदं, भज गोविंदं मूढ़मते!

गोविंद को भजोगे तो शाश्वतता मिलेगी। किंतु गोविंद को भजोगे कैसे? जानोगे कैसे? सदगुरु ही देता है इस क्षणिक जगत में शाश्वत सत्य की चाबी। प्रभु को खोजने के लिए हमें गुरु के चरणों में जाना होगा, सत्संग में बैठना होगा, होशपूर्वक सुनना होगा कि कैसे संसार के शोरगुल में सनातन संगीत को खोजें। कहीं दूर नहीं जाना है। हमारे भीतर आत्मा विराजमान है और इसी आत्मा में परमात्मा विराजमान है। इसी अस्थिर संसार में, अपने ही तन–मन में प्रवेश करके स्थिर चेतन का द्वार मिल जाता है, व्यक्ति स्थित–प्रज्ञ हो जाता है।

जीवन प्रतिपल चलता है जैसे झरना बहता है।
आगे की कोई आस नहीं पीछे शोक न करता है।

इसी स्वपनिल पल में, इसी क्षण में शाश्वत सत्य के द्वार खुलते हैं। पतझड़ में गिरती हुई पत्तियों की क्षणभंगुरता को देख, वृक्ष के तले विश्राम कर रहे लाओत्से को परमज्ञान मिल गया। भोर के डूबते हुए तारे को देखकर बुद्ध ने निर्वाण उपलब्ध कर लिया। इसी चपल संसार को देख कबीर साहब कहते हैं–

पानी केरा बुदबुदा जस मानुष की जात
देखत ही फिर जाएगा ज्यों तारा प्रभात।

यही अस्थिरता कुछ प्रज्ञावान लोगों के लिए ज्ञान का, अमृत का, आनंद का द्वार बन गई और इसीकी वजह से अरबों लोग दुख से आहत हैं। इसके पहले कि मौत आए इस अस्थिरता को समझें, अपने अहंकार के रोग को जानें और अहंकार के पार जाने की विधि सीखें किसी सद्‌गुरु से। वह विधि है ध्यान।

आइए इस सूत्र–संदर्भ में परमगुरु ओशो की अमृत वाणी सुनते हैं–

'यहां तो सब बहा जा रहा है, प्रतिपल भागा जा रहा है, यहां कुछ भी थिर नहीं है। इस अस्थिर पर भवन मत बनाना, इससे तो रेत भी कहीं ज्यादा थिर है, ये संसार तो जल की धार है इस पर भवन मत बनाना अन्यथा पछताओगे। थिर पर

नजर रखो, सदा उसको ढूंढ़ो जो सारे बहाव के बीच में भी थिर है। गाड़ी चलती है चाक घूमता है लेकिन कील ठहरी रहती है, उस कील पर नजर रखो। कील में तुम उसे पाओगे और चाक में संसार है। संसार का अर्थ ही चाक है, इसीलिए तो उसे हम संसारचक्र कहते हैं। चाक तो घूमता ही चला जाता है लेकिन जिसके सहारे घूमता है वो कील तो थिर है, अस्थिर को भी होने के लिए थिर का सहारा चाहिए, झूठ को जीने के लिए भी सत्य का सहारा चाहिए, स्वप्न के घटने के लिए भी सच का दृष्टा चाहिए अन्यथा स्वप्न भी न घट सकेगा।

कमल के पत्ते पर जैसे जल अस्थिर होता है ऐसे ही यह जीवन अतिशय चपल और अस्थिर है इससे अपने को जकड़ मत लेना अन्यथा तुम पछताओगे। क्योंकि यहां कुछ रुक ही नहीं सकता, तुम रोकना भी चाहोगे तो भी नहीं रुकेगा, सब बहा जा रहा है। जवान हो जवानी बह जाएगी, पकड़ने की कोशिश करोगे तो भी पकड़ न पाओगे, पकड़ने में ही समय व्यय हो जाएगा और तुम पछताओगे। आज ये शरीर है कल नहीं होगा, ऐसे बहुत शरीर हुए और अब नहीं हैं।

संसार एक चंचलता है, एक चपलता है, एक परिवर्तन है यहां तुम अपना घर मत बनाना। यादा से ज्यादा सरायें हैं, रात ठहरे सुबह फिर चल पड़ना और यदि यहां तुमने घर बनाया तो उसका परिणाम दुख ही होगा। तुमने यहां घर बनाया है इसीलिए तो दुखी हो। लोग मुझसे पूछते हैं कि हम दुखी क्यों हैं, इसीलिए तुम दुखी हो कि जहां तुम अपना भवन वहां बना रहे हो जहां बनाया नहीं जा सकता और जहां बनाया जा सकता है या जहां बना ही है वहां तुम देख ही नहीं रहे हो, तुम्हारी आंखें गलत दिशा में देख रही हैं इसीलिए दुख है।

दुख गलत के साथ जुड़ने का परिणाम है, गलत के साथ संग-साथ कर लेने का परिणाम है। आनंद सत्संग है।'

हमने अपना तादात्म्य गलत से कर लिया है, क्षणभंगुर से जोड़ लिया है। उससे कर लिया है जो प्रतिपल हाथ से फिसलता जा रहा है और इसलिए हम दुखी हैं। हमें अपना तादात्म्य बदलना होगा।

हमें रोज किसी न किसी की मौत की खबर मिलती है लेकिन हमें कभी यह ख्याल नहीं आता कि यह मौत एक दिन हमारे द्वार भी खटखटाएगी, हमें भी मरना होगा। हमें मौत झकझोरती नहीं है, हमारी हालत कुछ ऐसी है जैसे एक कसाईखाने में बहुत सारी भेड़ें रहा करती थीं और प्रतिदिन एक भेड़ वहां काटी जाती थी। वहां का जो कसाई था वह देखता था कि एक भेड़ जब कटती है तो

बाकी की भेड़ें बहुत रोती-चिल्लाती हैं, घबराकर शोरगुल मचातीं हैं। कसाई भी परेशान था, उसे एक दिन एक उपाय सूझा। उसने सारी भेड़ों के कान में जाकर धीरे से कह दिया कि तुम तो एक शेर हो। अगले दिन से परेशानी खत्म हो गई, जब भी कोई भेड़ कटती तो बाकी की प्रत्येक भेड़ सोचती कि 'मैं तो शेर हूं'। ये भेड़ें कटती है हम थोड़ी कटेंगे! और इसलिए वे कटती हुई भेड़ को देखकर मुस्कुरातीं और आपस में बातें करतीं कि देखो ये बेचारी भेड़ कट गई।

ऐसी ही हमारी हालत है, किसी को जब हम मरते देखते हैं तो हम सोचते हैं कि मौत तो किसी और को आएगी, हमें नहीं आएगी। मूढ़ वह है जो मृत्यु को देखकर भी नहीं चेतता और प्रज्ञावान वह है जो दूसरे की मृत्यु को देखकर अपनी मृत्यु के ख्याल से भर जाता है। तब वह अमृत पद को जानने का प्रयास करता है। वह अमृत हमारे भीतर है। हम सदैव रूप में उलझे हैं, दृश्य में उलझे हैं। चंचल दृश्य से जब हमारी चेतना द्रष्टा की ओर मुड़ती है तब उस निश्चल तत्व का दर्शन होता है। निर्विषय, निर्विकार चेतना से मिलन होता है जो साक्षी स्वरूप है। फिर जीवन ही बदल जाता है।

मेरा जीवन सबका साक्षी है।
कितनी बार सृष्टि जागी है,
कितनी बार प्रलय सोया है,
कितनी बार हंसा है जीवन,
कितनी बार विवश रोया है।
मेरा जीवन सबका साक्षी है।

अपरिवर्तनशील साक्षी में स्थिर होकर परिवर्तनशील अस्थिर जगत में आनंदपूर्वक जीने की कला सीखो। गोविंद को भजते हुए इस जीवन का उद्देश्य सफलतापूर्वक पूर्ण करो। स्मरण रखना, गोविंद का भजन शाब्दिक नहीं होता। कंठ से नहीं, जिह्वा से नहीं, मन से भी नहीं। साक्षी में स्थिर होने पर ओंकार का भजन सुनाई देने लगता है जो निरंतर चल ही रहा है। करना नहीं है भजन, सुनना है। किसी गीतकार ने सुंदर अभिव्यक्ति दी है–

हो अचल मन-मीत मेरे, रह सजग ऐ चीत मेरे।
शांत हो सुन भीतरी धुन, गूंजती अंतस में तेरे।।

तोड़ दे वह ढांचा चंचल, लड़खड़ाना हर पलों का,
छोड़ दे प्रश्नों की आदत, क्या हुआ अब तक हलों का?
कर प्रतिज्ञा इस तरह की, सदा उठकर नित सवेरे।
हो अचल मन-मीत मेरे, रह सजग ऐ चीत मेरे।

उम्र भर की दौड़ तेरी, चाह के विस्थापनों से।
कहां मजिल ढूंढ़ता तू, नाश होते इन तनों से।
झूठ साबित हो रहे हैं, इस जगत के सब बसेरे।
हो अचल मन-मीत मेरे, रह सजग ऐ चीत मेरे।

खूब इतराया जगत में, फूल पाकर, फूलकर।
नही खोली आंख तूने, कामना में भूल कर।
बह चला है रंग सारा, क्या करेगा अब चितेरे?
हो अचल मन-मीत मेरे, रह सजग ऐ चीत मेरे।

पकड़ तू अब पथ प्रदर्शक, मार्ग भी, मंजिल वही है।
बिना उसकी कृपा कोई, विधि सच्ची विधि नहीं है।
त्याग कर अभिमान मन का, लगा गुरु के चरण फेरे
हो अचल मन-मीत मेरे, रह सजग ऐ चीत मेरे।

ओम् का आलम्ब लेके, कर सदा निर्द्वन्द्व विचरण।
जान ले अनजाने सच को, मिटा भ्रम के आवरण।

बे-सहारों के सहारे, बन जाते हैं ईश्वर-सुरीले।
हो अचल मन-मीत मेरे, रह सजग ऐ चीत मेरे।
शांत हो सुन भीतरी धुन, गूंजती अंतस में तेरे।।

चंचल-चपल संसार के शोरगुल में आंतरिक अचल सुर को पकड़ो। जहां ओंकार है, वहां अहंकार नहीं। जहां अहंकार नहीं, वहां दुख से आहत होने की संभावना नहीं। वहां तो बस अनाहत है, आनंद है। निश्चित ही जो दुखी है, सो मूढ़ है। शंकर ठीक ही कहते हैं—भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

धनोपार्जन व परिवारजन

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज हम आदि शंकराचार्य जी के पांचवें सूत्र पर चर्चा करेंगे-

यावत् वित्तोपार्जनसक्तः तावत् निजपरिवारो रक्तः।

पश्चात् जीवति जर्जरदेहे वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे॥५॥

अर्थात् जब तक धन अर्जित करने की शक्ति है, तभी तक अपना परिवार भी अनुरक्त रहता है। बाद में बुढ़ापा आने पर जब शरीर जर्जर हो जाता है, तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।

संसार में जीने के दो दृष्टिकोण संभव हैं- एक दृष्टिकोण है आनंदवादी और दूसरा है उपयोगितावादी। सामान्यतः संसार उपयोगितावादी दृष्टिकोण से चलता है, पूरा समाज यूटीलिटेरियन दृष्टि से सबको आंकता है। लोग जब साठ साल के हो जाते हैं, ऊर्जा उनकी क्षीण होने लगती है तो उन्हें दफ्तर से रिटायर कर दिया जाता है- नौकरी से सेवामुक्त! अब वे सेवा करने योग्य नहीं रहे, उन्हें स्वयं दूसरों से सेवा और सहायता लेने की जरूरत पड़ने लगी।

ऐसे ही घर में जब लोग बूढ़े हो जाते हैं, कार्य करने एवं धनार्जन की क्षमता खत्म हो जाती है तब परिवार में उनका आदर कम होने लगता है। घर में माताएं हैं, दादी-नानी हैं; जब तक वे सेवा कर सकती थीं अपने बच्चों-नाती-पोतों की तब तक सब उन्हें पूछते रहे, उनका जब तक उपयोग था तब तक उनका खूब आदर रहा और जिस दिन उपयोग खत्म हुआ, उसी दिन इज्जत भी समाप्त। व्यक्ति से किसी को कुछ लेना-देना नहीं है, उसके शोषण से मतलब है, अपनी स्वार्थ-पूर्ति से संबंध है। जब उन्हें जरूरत पड़ी बेटे-बेटियों, बहुओं या नाती-पोतों द्वारा सेवा की, तब लोग विचारने लगते हैं कि अब इन्हें किसी वृद्धाश्रम में भेज दिया जाए। कितने लोगों के साथ आए दिन ऐसा होता है। लेकिन संसार ऐसे ही चलता है, सब एक-दूसरे के ऊपर निर्भर हैं। जब तक हमारे पास शक्ति है, पद है, धन कमाने की क्षमता है, लोग प्रेम दिखाते, हालचाल पूछते हैं। भ्रांतिवश राजनेता सोचते हैं कि हमारे इतने अनुयायी हैं। अनुयायी उनके नहीं हैं, पद के अनुयायी हैं। जिस दिन कुर्सी छिन जाएगी एक आदमी तुम्हारे पास नहीं फटकेगा, लोग आंख बचाकर निकल जाएंगे। जिंदाबाद के नारे लगाने वाले नमस्ते भी नहीं करेंगे। लोग पहचानेंगे तक नहीं।

समाज में तभी तक इज्जत होती है जब तक शक्ति-संपत्ति पास में होती है। जिस घर गृहस्थी की खातिर अपनी सारी जिंदगी दांव पर लगा दी, उसी परिवार में बढ़ती उम्र के साथ घटती इज्जत को देखकर आश्चर्य मिश्रित दुख होता है कि जिनके लिए मैंने सारा जीवन गंवाया वे लोग वास्तव में मुझे प्रेम नहीं करते थे, वे तो मेरे सामर्थ्य को प्रेम कर रहे थे। तथ्य को देखकर बड़ी पीड़ा होती है। बूढ़े लोग चिड़चिड़े हो जाते हैं, उसकी वजह यही है। इस क्रोधयुक्त पीड़ा से कैसे मुक्त हुआ जाए? शंकर कहते हैं—मुक्ति का एक ही उपाय है, गोविंद को भजो। प्रभु-स्मरण करो।

लोगों ने सोचा कि इस संसार में सच्चा प्रेम नहीं है। जहां प्रेम भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण से चलता है वहां क्या रहना? इसलिए भोगी, त्यागी हो जाते हैं। आसक्ति, विरक्ति बन जाती है। लोग परिवार छोड़कर गोविंद को भजने के लिए जंगल चले जाते हैं। लेकिन जंगल में भी रहने के लिए घर तो चाहिए ही, कोई गुफा खोज ली या झोपड़ी बना ली। ठंड की ऋतु में कुछ तो पहनने के लिए चाहिए, फिर कपड़े एकत्रित करने होंगे। वर्षा के मौसम हेतु कुछ भोजन आदि संभालकर रखना होगा। क्रमश: सारी व्यवस्था फिर आ जाएगी। सुरक्षा का इंतजाम करना होगा। धीरे-धीरे पूरा संसार निर्मित हो जाएगा। दुनिया से भागकर कहां जाओगे? जीवन की जरूरतें हैं, वे पूरी करनी ही होंगी।

मैंने एक कहानी सुनी है कि एक वनवासी साधु की लंगोटी को जब चूहे कुतर गए तो उसने निकटवर्ती गांव के लोगों से पूछा कि अब कैसे इस लंगोटी को हम बचाएं चूहों से? लोगों ने सलाह दी कि बिल्ली पाल लो। तरकीब काम कर गई, साधु ने बिल्ली पाल ली, वह चूहों को खाने लगी। लंगोटी तो बच गई, लेकिन अब नई समस्या आ गई... बिल्ली को दूध चाहिए, अब त्यागी साधु कहां से दूध लाए? ग्रामीणों ने कहा कि आप एक गाय पाल लीजिए। साधु ने गाय पाल ली, लेकिन उसको खिलाने के लिए भी तो कुछ घस-पात चाहिए। अब वह सब कहां से लाए? गाय की सेवा कौन करे? लोगों ने समझाया कि आप ऐसा करिए कि थोड़ी-सी, एकाध एकड़ जमीन साफ करके खेती आरंभ कर दीजिए, उसमें घास बोएंगे और सब्जियां लगाएंगे तो वह आपके भी काम आएगी और गाय का काम भी चल जाएगा।

साधु ने खेती शुरु कर दी, लेकिन उसे संभालने की मुसीबत, आए दिन नई मुश्किलें आने लगीं। साधु गाय की सेवा करेगा तो गोविंद को कब भजेगा, खेत में परिश्रम करेगा तो प्रभु को स्मरण कब करेगा? लोगों ने सलाह दी कि ऐसा करिए कि आप एक नौकरानी रख लीजिए। गांव में एक युवा विधवा है, मायके और

ससुराल में उसका कोई नहीं है। उस गरीब स्त्री का भी भरण-पोषण हो जाएगा। साधु ने उस महिला को सेवा करने के लिए रख लिया। धीरे-धीरे पूरा परिवार बस गया, बाल-बच्चे भी हो गए। फिर उपयोगिता का जगत फैलने लगा। तुम दूसरों का उपयोग करोगे तो वे भी तुम्हारा उपयोग करेंगे। बाहर की दुनिया परस्पर-शोषण से, उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही चलती है। भागने का कोई उपाय नहीं है।

तुम्हारी धारणा अंततः दुख में ले जाएगी चाहे जो कर लो। कुछ लोगों ने सोचा कि ये जो प्रेम है, दिखावटी और झूठा है। लोग मेरे धन से प्रेम करते हैं, मेरे पद से मतलब रखते हैं तो इस प्रेम को ही छोड़ दिया जाए। वे शुष्क हो गए, नीरस हो गए। मगर जड़वत हो जाने से, संगदिल हो जाने से जीवन में निखार नहीं आता। संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है, जिंदगी मरी-मरी सी हो जाती है। ऐसे लोग नाम-मात्र को ही जीवित हैं। ओशो ने व्यंग्य में कहा है कि अधिकांश लोग मर बहुत पहले जाते हैं, दफनाए काफी बाद में जाते हैं। बीस-पच्चीस वर्ष में राख हो चुकते हैं, सत्तर-अस्सी साल में चिता पर चढ़ाए जाते हैं।

ऐसा हुआ, एक खोजी युवक सूफी फकीर बायजीद के पास जाता है। पूछता है कि मुझे परम तत्त्व को जानना है। जीवन ऐसे ही बीता चला जा रहा है मुझे कुछ ऐसा उपाय बताएं जिससे प्रभु को पाया जा सके। फकीर ने कहा कि अवश्य बताऊंगा लेकिन पहले तुम यह बताओ कि क्या तुमने कभी किसी से प्यार किया है? युवक बोला—प्यार! माफ कीजिए, मैं परमात्मा को खोजने आया हूं और आप प्यार की बात करते हैं। बायजीद ने पुनः कहा कि ठीक से सोचकर बताओ क्या तुमने कभी किसी से प्रेम किया है? युवक अकड़कर बोला कि मुझे इन फालतू बातों के लिए कहां समय है, मैं तो सारी जिंदगी ईश्वर की खोज में लगा दिया हूं। तीसरी दफा फकीर ने फिर विनम्रतापूर्वक कहा कि अंतिम बार पूछता हूं जरा और सोचकर बताओ, क्या तुमने किसी से भी... अपनी पत्नी से, बच्चों से, अपने पिता से, मां से, या किसी मित्र से प्रेम किया है? कठोर से दिखने वाले युवक ने कहा नहीं, नहीं, नहीं; मैंने किसी से कभी प्रेम नहीं किया। मैं केवल परमात्मा का प्यासा हूं।

फकीर की आंखों में आंसू आ गए, बोला कि फिर तो मैं तुम्हारी मदद नहीं कर सकता हूं। काश, तुमने थोड़ा सा भी प्रेम कभी संसार में किसी से किया होता तो उसी प्रेम को शुद्ध करने का मार्ग मैं बता देता। वही प्रेम एक दिन शुद्ध होकर श्रद्धा-भक्ति बन जाता। जीसस ने कहा है कि 'परमात्मा प्रेम है' और ओशो ने तो यहां तक कह दिया कि 'प्रेम ही परमात्मा है'। कौन सा प्रेम? जब हमारे प्रेम में मिश्रित वासना और अहंकार की अशुद्धियां विदा हो जाती हैं, तब वैसा प्रेम प्रभु का

द्वार बन जाता है।

अहंरहित आंखों से देखा गया जगत ही ब्रह्म स्वरूप नजर आता है। प्रेमरहित नजरिये से देखा गया परमात्मा, पदार्थवत दिखाई देता है। जब हम गोविंद को भजते हैं जीवन में आनंद उतर आता है। और इस आनंद को जब हम बांटते हैं तो उस शेयरिंग का, एक्सप्रेशन का नाम ही प्रेम है। ऐसा प्रेम भीख नहीं, दान है। आनंद की अभिव्यक्ति है शुद्ध प्रेम। इसमें किसी से कोई अपेक्षा नहीं होती, इसमें कुछ भी उपयोगिता की दृष्टि से नहीं होता, भक्त का होना मात्र प्रेममय हो जाता है। आंतरिक आनंद से प्रवाहित हो उठता है ऐसा प्रेम का झरना। जैसे आषाढ़ का बादल बिना बरसे नहीं रह सकता, कोई नदी बिना जल दिए नहीं रह सकती, सूरज रोशनी दिए बगैर नहीं रह सकता और पेड़ बिना फल-फूल दिए नहीं रह सकता; वैसे ही भक्त का जीवन हो जाता है, वह बिना प्रेम लुटाए रह ही नहीं सकता। यही है शुद्ध प्रेम, चाहो तो महावीर के शब्दों में अहिंसा कह लो या बुद्ध की भाषा में करुणा कह लो। और यह सबके जीवन में आ सकता है यदि हम परम चैतन्य में डूबें। भज गोविंदम् भज गोविंदम् भज गोविंदम् मूढ़मते।

आइए सुनते हैं, परमगुरु ओशो की अमृत वाणी–

'लोग मुझसे पूछते हैं, हम दुखी क्यों हैं?

इसलिए तुम दुखी हो कि तुम भवन अपना वहां बना रहे हो जहां बनाया नहीं जा सकता; और जहां बनाया जा सकता है, या जहां बना ही है, वहां तुम देख ही नहीं रहे हो। तुम्हारी आंखें गलत दिशा में हैं, इसलिए दुख है। दुख, गलत के साथ जुड़ने का परिणाम है, गलत के साथ संग-साथ कर लेने का परिणाम है। आनंद सत्संग है।

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।

पश्चाज्जीवति जर्जरदेहे वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे।।

'जब तक धन अर्जित करने की शक्ति है, तभी तक अपना परिवार भी अनुरक्त रहता है। बाद बुढ़ापा आने पर जब शरीर जर्जर हो जाता है, तब घर में कोई बात भी नहीं पूछता। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।'

अगर परिवार ही बनाना है तो उसके साथ बना लो। अगर विवाह ही रचाना है तो उसके साथ रचा लो। इस जगत के सब विवाह गहरे में तलाक हैं। इस जगत के सब संबंध बस ऊपर-ऊपर नाममात्र हैं, भीतर कुछ भी नहीं है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक लखपति बाप की बेटी के प्रेम में था और कहता था: चाहे जीवन रहे कि जाए, तुझे नहीं छोड़ सकता। मरने को तैयार हूं, अगर उसकी भी जरूरत हो; शहीद हो सकता हूं, लेकिन तुझे नहीं छोड़ सकता। बड़ी बातें करता था।

एक दिन लड़की बड़ी उदास थी और उसने नसरुद्दीन से कहा कि सुनो, मेरे पिता का दिवाला निकल गया!

नसरुद्दीन ने कहा, मुझे पहले से ही पता था कि तेरा बाप जरूर कोई न कोई गड़बड़ खड़ी करेगा और हमारा विवाह न होने देगा।

विवाह ही जिस कारण से कर रहे थे, वही खतम हो गया!

तुम्हारे संबंध, तुम कहते कुछ और हो, कारण उनका कुछ और ही होता है। तुम बताते कुछ और हो...और मजा ऐसा है कि तुम जो बताते हो, हो सकता है तुम ऐसा मानते भी होओ कि यही सच है। तुम अपने को भी धोखा दे लेते हो; दूसरे को ही देते हो, ऐसा नहीं है। आदमी बड़ा कुशल है, अपने को भी धोखा दे लेता है।

जब भी शंकर, महावीर या बुद्ध संसार की बात करते हैं तो तुम समझ लेते हो कि यह जो चारों तरफ फैला है इस विस्तार की बात कर रहे हैं। इस विस्तार से उनका कोई प्रयोजन नहीं। जब भी वे कहते हैं संसार तो उनका मतलब है कि तुम्हारे मोह ने जो जाना है, तुम्हारे मोह ने जो बनाया है, तुम्हारे अज्ञान से जो उपजा, तुम्हारी मूर्च्छा से जो उत्पन्न हुआ वही संसार है। ये वृक्ष तो फिर भी रहेंगे, ये पहाड़, पत्थर, चांद-तारे तो फिर भी रहेंगे, तुम जाग जाओगे तब भी रहेंगे, ये नहीं मिट जाएंगे। लोग पूछते हैं कि जब कोई परमज्ञान को उपलब्ध होता है तो संसार मिट जाता है लेकिन फिर ये पहाड़, चांद, तारे, पत्थर, सूरज इनका क्या होता है, ये नहीं मिट जाते हैं? वस्तुतः पहली दफा ये अपनी शुद्धता में प्रगट होते हैं, वही शुद्धता परमात्मा है। तब तुम्हें चांद नहीं दिखता, चांद में परमात्मा की रोशनी दिखती है। तब वृक्ष नहीं दिखते, वृक्ष में परमात्मा की हरियाली दिखती है। तब फूल नहीं दिखते, उस फूल में परमात्मा खिलता हुआ दिखता है। तब ये सारा विराट अस्तित्व ही परमात्मा हो जाता है। अभी तुम्हें परमात्मा नहीं दिखता है, संसार दिखता है।'

आदि शंकराचार्य के इस सूत्र का हिन्दी पद्य रूपांतरण सुनो—

धन अर्जन में जब तक सक्षम, तब तक हो तुम सबके प्रियतम।
जब वृद्ध हुए तो व्यर्थ हुए, घर में भी होता आदर कम।
अब सारी माया-मोह तजो, गोविंद भजो, गोविंद भजो।।

प्रभु को भजने का अर्थ है, समष्टि के संग प्रेम। उसका मार्ग है–अपने भीतर जाएं, चैतन्य में डुबकी लगाएं। हृदय के अंदर ही गोविंद की अनुभूति होती है। और जब उस अनुभूति में हम डूबते हैं तो हमारा जीवन प्रेममय हो जाता है और परमात्मा से भरपूर हो जाता है। फिर स्वयं और दूसरे में कोई भेद ही नहीं लगता है, सारे द्वैत मिट जाते हैं। पता चलता है कि जो गोविंद मेरे भीतर है वही गोविंद सबके भीतर है। तब कैसे उपयोगितावादी दृष्टि से कोई देख सकता है, फिर तो प्रेममयी, आनंदवादी दृष्टि से ही जगत देखा जाता है। जैसे कि मेरे होने में मुझे आनंद है वैसे ही दूसरे का होना मात्र पर्याप्त है, अकारण ही फिर प्रेम की धारा बहती रहती है। यही सच्चा भजन है। शब्दों में गोविंद–गोविंद रटने से अथवा कोई अन्य नामजप करने से भजन नहीं होता।

साकार से विरक्त नहीं होना है, साकार के अंदर छिपे निराकार से अनुरक्त होना है। परिवार से भागना नहीं है, ओंकार में जागना है। यह जीवन ही भजन हो जाए, कार्य पूजा हो जाए, प्रेम प्रार्थना हो जाए, सांस–सांस उपासना हो जाए; उस दिशा में बढ़ना है। वह दिशा बाहर नहीं, तुम्हारे भीतर है। शंकराचार्य वहीं जाने का संकेत कर रहे हैं। भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

क्षणभंगुर संबंधों का संसार

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

इस जगत में मिलने वाले बड़े-बड़े दुखों का एक महत्त्वपूर्ण कारण है- लोगों के साथ निर्मित संबंधों की क्षणभंगुरता। जहां अपना तन-मन तक संग छोड़ देता है, वहां संसार का भला कौन जन साथ निभा पाएगा? इस विषय पर

आज हम आदि शंकराचार्य जी कृत भज गोविंदम् के छठवें सूत्र पर विमर्श करेंगे–

यावत् पवनो निवसति देहे तावत् पृच्छति कुशलं गेहे।
गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये॥६॥

अर्थात् जब तक देह में प्राण हैं, तभी तक घर के लोग कुशलक्षेम पूछते हैं। प्राण निकलने पर शरीर का पतन हुआ कि फिर अपनी पत्नी भी उस शरीर से भय खाती है। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।

जिन संबंधों की खातिर हम अपना पूरा जीवन व्यय करते हैं, जीवन के व्यतीत होते ही वे प्यारे संबंध यूं विलीन हो जाते हैं जैसे सुबह जागने पर रात्रि के मधुर स्वप्न। जैसे इन्द्रधनुष बहुत सुन्दर लगता है लेकिन देखते–देखते ही गायब हो जाता है। हमारे बच्चे, पति, पत्नी, भाई, बहन, माता, पिता, मित्र आदि; ये मधुर संबंध साबुन–पानी के रंगीन बुलबुले जैसे हैं, बस देखते–देखते ही फूट जाते हैं मनमोहक बुलबुले। पति के बिना एक दिन भी रहना मुश्किल समझती है जो पत्नी, वो भी मृत्यु आने के बाद एक दिन साथ में नहीं गुजार सकती। बच्चे जो कभी छाती से चिपककर माता के संग रहते थे वे अपनी छाती पीट–पीटकर कहते हैं कि अब माताजी को ले जाने का इंतजाम करो। चिता के ठंडे होने तक भी श्मशानघाट पर कोई रुकने को तैयार नहीं होता। किसी शायर ने कहा है–

'दबा के कब्र में सब चल दिए दुआ न सलाम,
जरा सी देर में क्या हो गया जमाने को।'

एक सूफी कहानी है, कि एक युवक सूफी फकीर के पास जाता है और कहता है कि मुझे खुदा को पाना है, सत्य की तलाश करनी है; लेकिन क्या करूं, घर छोड़कर आपके पास आ नहीं सकता सीखने के लिए क्योंकि मेरी पत्नी, मेरे बच्चे मेरे बगैर नहीं रह सकते। सूफी फकीर ने कहा कि क्या जब तुम नहीं रहोगे तो पत्नी–बच्चे रह लेंगे? युवक ने जवाब दिया कि नहीं, मेरी पत्नी मेरे बगैर मर जाएगी, बच्चे नहीं जी पाएंगे। वे मुझे वाकई बहुत प्यार करते हैं। फकीर ने कहा कि तुम ये श्वांस रोकने की एक विधि सीख लो और अभ्यास करो। वह कुम्भक की विधि एक विशेष प्रकार का प्राणायाम थी, उसे करते–करते ऐसा दिखने लगता था जैसे कि आदमी मर गया हो। उसे कई दिनों तक वो साधता रहा। एक दिन फकीर ने कहा कि यह प्राणायाम तुम्हें सिद्ध हो

गया, अब तुम घर जाकर भी ऐसा ही करना। फिर देखना क्या होता है?

घर जाकर उसने कुम्भक किया और श्वांस रोककर लेट गया। पत्नी ने देखा तो उसे लगा कि अरे, पतिदेव की मृत्यु हो गई, बच्चों ने भी देखा कि पिताजी तो चल बसे। पत्नी-बच्चे सब छाती पीटकर रोने लगे। युवक के माता-पिता आ गए, पड़ोसी आ गए, सब आंसू बहा रहे। थोड़ी ही देर बाद फकीर दस्तक देता है दरवाजे पर। द्वार खुलता है तो रोते-बिलखते लोग दिखाई देते हैं। फकीर पूछता है कि अरे क्या हो गया? लोग बतलाते हैं कि इसकी असमय मौत हो गई। फकीर बोला—मेरे पास एक उपाय है, अभी ज्यादा देर नहीं हुई है, अभी इसकी आत्मा को वापिस बुलाया जा सकता है लेकिन किसी एक को इसके बदले में मरना होगा। फकीर ने उसकी पत्नी से पूछा कि क्या तुम इसके बदले मरना पसंद करोगी? क्योंकि तुम रो-रोकर कह रही थीं कि अब मैं कैसे जिंदा रहूं, मैं मर ही जाऊं तो अच्छा! तैयार हो जाओ, तुम्हें मरना होगा। तुम्हारा पति तुरंत जिंदा हो जाएगा।

पत्नी ने कहा कि अब इनकी मृत्यु तो हो ही चुकी है, विधि के विधान में जो लिखा था, अब जो हुआ सो हुआ, इसी दुख के साथ मैं रह लूंगी। इनकी यादों के सहारे जी लूंगी। मुझे क्यों मरने के लिए आप कह रहे हैं? मेरे मरने के बाद बच्चों का क्या होगा? बिना मां के बच्चे अनाथ हो जाते हैं, बिगड़ जाते हैं। पिता से अधिक उन्हें मां के प्यार की जरूरत होती है। आप तो साधु ठहरे, घर-गृहस्थी की ये बातें आप क्या जानें!

ऐसा ही तर्कयुक्त जवाब बच्चों ने दिया। तीन बेटियां कहने लगीं कि हम तो पराया धन हैं। अमानत के रूप में इस परिवार के पास हैं। हमारे भाई का मरना उचित होगा। सबने बेटे की तरफ आशा भरी नजरों से देखा। वह बोला—मैं इकलौता पुत्र हूं। मेरे मरने के बाद जरूरी नहीं कि यह वंश चले। मेरे पिता अगर जी उठे तो इस उम्र में पुनः बेटे को जन्म दे पाएंगे, इसमें संदेह है। मेरा जीवित बचना अनिवार्य है खानदान की खातिर। बूढ़े माता-पिता तो जवाब दिए बगैर ही उस कमरे से खिसकने लगे। फकीर ने उन्हें आवाज दी—आप तो अपनी जिंदगी भरपूर जी चुके हैं। वे बोले—चुपकर नासमझ। अभी तक तो हम गृहस्थ आश्रम में जीते रहे, अब वक्त आया है धर्म-साधना का, तीर्थयात्रा का, कुछ दान-पुण्य कमाने का।

लेटा हुआ युवक सब सुन रहा था। अचानक उसने आंखें खोलकर कहा

कि जिनके लिए मैं मर ही गया था अब वास्तव में मैं उनके लिए मर ही गया समझो। और गुरुदेव, मैं अब आपके साथ चलता हूं उस सत्य की खोज में जो सदा-सदा साथ देता है, जो मौत के उपरांत भी संग रहेगा मेरे। जन्म के समय, जीवन पर्यंत और मृत्यु के बाद भी जिस अमृत तत्व का सहारा नहीं छूटता, कृपाकर उसकी तलाश करने का उपाय बताएं। अब मैं पूर्णतः आपके साथ चलता हूं।

हम जिसे जीवन कहते हैं वह एक अंतर्संबंधों का जाल है। अंतर्संबंध का मतलब है कि हम किसी पर निर्भर हैं और कोई हम पर निर्भर है। प्यारा है यह जाल लेकिन हमने सब कुछ इसे ही मान लिया है। ये अंतर्संबंधों का जाल ही सब कुछ नहीं है। ये कुछ ऐसे ही है कि जैसे हमने किसी सराय को अपना घर मान लिया हो। ऐसा समझें कि हम पिकनिक के लिए आए और किसी गेस्ट हाउस में रुके हैं। माना कि उस घर में अच्छा बिस्तर है, खुबसूरत फर्नीचर है, वहां अच्छा मौसम है, सुंदर बगीचा है, सब कुछ श्रेष्ठ है लेकिन कितना मूल्य है उनका? उतना ही मूल्य जीवन के इन संबंधों का है।

जिसे हमने जीवन मान लिया, जन्म से लेकर मृत्यु तक की कथा को, यह वास्तव में जीवन नहीं है। किसी उपन्यास या फिल्म की कहानी से ज्यादा सच नहीं! सभी पात्र अभिनय कर रहे हैं। अपना-अपना रोल निभा रहे हैं, उनमें कुछ सचाई नहीं है। मृत्यु के बाद और जन्म के पूर्व भी एक जीवन है। उस यथार्थ जीवन की तलाश में हमें जाना होगा, तभी संतुष्टि संभव है।

इस जीवन के जो रिश्ते हैं ये तो इसी शरीर के साथ समाप्त हो जाएंगे। और याद रखना, इस शरीर से जो रिश्ते बने थे वे चेतना के कारण बने थे, जीवंतता के कारण बने थे। हम किसी को प्रेम करते हैं-क्योंकि वह जीवंत है, चैतन्य है इसीलिए। अगर उसकी अगले ही क्षण मृत्यु हो जाती है तो कौन प्रेम करता है, कैसे प्रेम करेगा, यह संभव ही नहीं है। तो जिस चैतन्य का लोग प्रेम कर रहे हैं, जिसके कारण संबंध बने हैं उसी चैतन्य की तलाश में चलो। उस चैतन्य की तलाश में कौन ले जाता है? जो उस शाश्वत चैतन्य को जानता है। उस रहस्य लोक का द्वार गुरु बताता है।

जब तक तन में है शेष प्राण, तब तक देते सब प्रेम मान,
मृत हुए तो पत्नी भी भय से, कहती ले जाओ श्मशान।

अब अपना-पराया भेद तजो, गोविंद भजो, गोविंद भजो।

परिधि के संबंधों की जरूरत से ज्यादा कीमत नहीं आंकना। अवश्य उतना मूल्य देना जितना वे डिसर्भ करते हैं। इन सत्तर-अस्सी सालों में जितना मूल्य देना है संबंधों को, अभिनय स्वरूप उतना मूल्य देते हुए; अपने केन्द्र से जुड़ो, वास्तविक संबंध को जानो, स्वयं के आत्म-तत्व को पहचानो। किसी शायर ने कहा है–

'जिस्म और रूह का रिश्ता अजीब रिश्ता है,

उम्र भर साथ रहे फिर भी तबारुफ न हुए।'

इसी शरीर में आत्मा रहती है, परिवर्तनशील में शाश्वत्ता निवास करती है लेकिन उससे मुलाकात नहीं होती, उसका अहसास कभी नहीं होता। सदा क्षणभंगुरता का अनुभव होता है, उसीके लिए जीवन-ऊर्जा खिंचती रहती है। समयातीत से मिलने की कला सिखाता है गुरु। अमृत तत्व है साध्य, और उसको जानने के लिए ध्यान की कला है साधन। जब हम ध्यान के द्वारा अपने भीतर, केन्द्र में प्रवेश करते हैं तो अंतर्तम की गहराइयों में एक ऐसी निष्कंप अनुभूति होती है, एक ऐसी स्थिर जगह मिलती है जहां कोई भूकंप नहीं पहुंचता, मौत की लहरें भी नहीं पहुंचतीं। आत्मा से योग ही एकमात्र शाश्वत रिश्ता है जो मरने के बाद भी हमारे साथ जाता है।

सबसे पहले किसी सद्गुरु से नाता जोड़ो और फिर गुरु तुम्हारा परिचय गोविंद से करवाएगा। जैसे मीराबाई ने संत रविदास के माध्यम से नाता जोड़ा गोविंद से और यह गीत गाया–

मारो जनम मरण को साथी।

थानी नहीं बिसरूं दिन-राती।।

तुम देखो बिन कल न परत है, जानत मेरी छाती,

ऊंचे चढ़-चढ़ पंथ निहारूं, रोएं अंखियां राती।

ये संसार सकल जग झूठा, झूठा कुल व नाती,

थानी नहीं बिसरूं दिन-राती।।

मीरा कह रही है—हे मेरे जनम-मरण के साथी, अब मैं तुम्हें कभी नहीं भूल सकती। तुम्हारा ही स्मरण दिन-रात बना रहता है। हम भी ऐसा ही सनातन साथी चुन लें जो हमारे भीतर ही विराजमान है। जब हम अपने भीतर जाते हैं और अपने अमृत तत्व की अनुभूति करते हैं तब इस संसार के सारे रिश्ते, ऐसा नहीं है कि छूट जाते हैं, कुछ भी नहीं छूटता, ये जीवन बस एक लीला मात्र हो जाता है, अभिनय की तरह हो जाता है। केन्द्रस्थ रहते हुए परिधि पर अभिनय का खेल हम कुशलता से खेलते हैं।

परमगुरु ओशो से किसी अभिनेता ने पूछा कि मुझे अभिनय और जीवन के बारे में कुछ राज की बात, कोई सफलता का सूत्र बताएं? ओशो ने उसकी डायरी में लिखा कि 'अभिनय ऐसे करो जैसे कि वह जीवन है और जीवन ऐसे जियो जैसे कि वह अभिनय है।' अभिनय पूरी गंभीरता से करना, और जीवन को खेल की तरह जीना। इस प्रकार दोनों ही क्षेत्रों में कुशलता, एक्सीलेंस जन्मेगी, और सत्यम् शिवम् सुंदरम् का, अमृत और आनंद का अनुभव होगा। गोविन्द का भजन पैदा होगा। गोविन्द यानि सच्चिदानंद।

परमगुरु ओशो कहते हैं—

'जो सदा साथ रह सके, उसी का साथ कर लो। जिनका साथ नदी-नाव संयोग है, उनका साथ भी क्या साथ है? राह पर चलते हुए जैसे यात्री मिल जाते हैं घड़ी भर को, साथ हो लेते हैं, फिर अलग-अलग मार्ग हो जाते हैं, बिछुड़ जाते हैं। ऐसा ही घड़ी भर का साथ है। इस साथ को बहुत मूल्य मत देना। और इस साथ को सत्य मत मान लेना। स्वप्न में जैसे किसी से मिलन हो गया है, नींद टूटते ही छूट जाएगा।

यावत्पवनो निवसति देहे तावत्पृच्छति कुशलं गेहे।

गतवति वायौ देहापाये भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये।।'

असत्य संबंधों को असत्य की भांति जानने से सत्य की खोज शुरु होती है। झूठ को झूठ जानने से उत्पन्न हुई बेचैनी ही वास्तविकता की तलाश हेतु प्रेरणा बनती है। 'दूसरे' से संबंध सपने जैसा है, यह ज्ञान ही 'स्व' से मिलन की दिशा में प्रथम कदम बनता है।

आदि शंकराचार्य के इस सूत्र को निगेटिव ढंग से मत देखना, कि वे जीवन के संबंधों के प्रति निराशा सिखा रहे हैं। वे 'स्वयं' से संबंधित होने की विराट

आशा जगा रहे हैं। 'पर' से मुक्त हो 'परमात्मा' से जुड़ने का गुर बता रहे हैं। जो व्यक्ति ऐसा न कर सके वह निश्चित ही गहरी नींद में सोया हुआ है, वह मूढ़ है। बहुत सो लिए, अब सपनों से जागो। गोविन्द भजो। गोविन्द भजो।

न तन अपना, न मन अपना
न जग में, कोई जन अपना।
जीवन खुले नयन का सपना
केवल द्रष्टा—चेतन अपना।।
भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।
हरि ओम् तत्सत्।।

भांति-भांति के खिलौने

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

संत शिरोमणि कबीरदास जी ने गाया है-

बीतगएदिनभजनबिनारे,भजनबिनारे।

बालअवस्थाखेलगंवाई,जबजवानीतबमानघनारे।

लोभेकारणमूलगंवायो,अजहोंमिटिमनकीतृष्णारे।

कहतकबीरसुनोभाईसाधो,पारउतरगयेसंतजनारे।

पहले बचपन के खिलौने, फिर जवानी की वासनाएं, फिर बुढ़ापे की चिंताएं... बस यूं ही वक्त गुजर जाता है। जीवन हाथ से निकल जाता है। और एक दिन मौत द्वार पर दस्तक देने आ जाती है। फिर भी होश नहीं आता। रोज हमारे जैसे लगभग ढ़ाई लाख मनुष्य पृथ्वी से विदा हो जाते हैं, फिर भी हम चौंकते नहीं, जागते नहीं। जो विरला जाग जाता, वह संत जन्म-मृत्यु के पार उठ जाता। ऐसे जागृत लोग अन्य सभी को मोह-निद्रा से जगाने का प्रयास करते हैं। आज के सूत्र में इसी ओर आदि शंकराचार्य जी का संकेत है। भज गोविंदम् के सातवें श्लोक में वे कहते हैं-

बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीसक्तः।

वृद्धस्तावत् चिन्तासक्तः परे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः॥७॥

अर्थात् बालक खेलकूद में आसक्त रहता है, युवक तरुणी के प्रेम में आसक्त है, और वृद्ध चिंताओं में आसक्त रहते हैं। कभी तो मनुष्य परमात्मा के प्रति संलग्न नहीं होता। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।

बच्चा जब जन्म लेता है तो उसका पहला अनुभव बाहर के जगत से होता है जहां माता-पिता हैं, भाई-बहन हैं, अन्य लोग हैं। देह की समस्त जरूरतें बाहर से पूरी होती हैं- भोजन, प्रेम, सुरक्षा, सुख-सुविधा। स्वाभाविक रूप से उसका मोह बाहर के जगत से लग जाता है। मोह या आसक्ति का अर्थ है कि चीजें हमें बाहर की ओर खींच रही हैं। हम उनकी ओर खिंचे जा रहे हैं, उन्हें पकड़ रखने की कोशिश में लग गए। चेतना बहिर्मुखी हो गई।

बच्चा खिंचता है खेल की ओर, खिलौनों में उलझता और व्यस्त हो जाता। व्यस्तता और आसक्ति परस्पर एक-दूजे को बढ़ाती हैं। हम जितने मोह में होंगे, उतने ही व्यस्त होंगे। और जितना व्यस्त होते जाएंगे उतना और अधिक मोह में पड़ते जाएंगे। इस दुष्चक्र को कैसे तोड़ें? उम्र के साथ आसक्ति के विषय तो परिवर्तित होते, किंतु आसक्ति नहीं बदलती है। किशोर अवस्था में आए तो आसक्ति का ढंग बदल गया, जवान हुए तो आसक्ति का रूप फिर बदल गया, प्रेम में रस आ गया, फिर लड़ाई-झगड़ों में रस आ गया। तो बाहर निरंतर हमें उम्र के अनुसार आसक्तियां खींचे जा रही हैं। जैसे ही आसक्ति में हम उलझते हैं तो

उसका परिणाम होता है भय और चिंता। जिस चीज से आसक्ति है वह चीज छिन न जाए, मेरे प्यारे के साथ कोई और न हो ले, जिसे मैं प्रेम करता हूं वह मेरा होगा या नहीं, हो सकता है ऐसा कुछ हो जाए कि वह मेरा साथ छोड़कर चल दे, ऐसे तरह-तरह के भय सताते रहते हैं और जीवन एक उलझाव बनकर रह जाता है। हाथ में फूल पाने की आकांक्षा रहती है लेकिन कांटे ही कांटे हाथ आ जाते हैं। क्योंकि जिस चीज से हमें आसक्ति है उसी चीज से और लोगों को भी आसक्ति है और जगत में सब क्षणभंगुर भी है। जिस चीज में हमारी आसक्ति है अगर वह मिल गई तो हमारा रस भी बदल सकता है और अगर वह नहीं मिली तो रस तो कायम है लेकिन नहीं मिलने का दुख होता है और मिलने के बाद फिर बिछुड़ने का दुख। प्रिय मिला तो मिलन-सुख के संग बिछुड़ने की आशंका, भय। और अप्रिय मिला तो उसके मिलने का दुख। ऐसे ही सुख और दुख के झूले में हम झूलते रह जाते हैं। लोगों ने सोचा कि आसक्ति से दुख होता है तो अब चलो विरक्ति से नाता जोड़ते हैं। भोगी त्यागी बन जाते हैं। राग की जगह विराग ले लेता है, वह राग का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। नहीं, वह भी अचित नहीं। आसक्ति का सदुपयोग कर लेना एक कला है, सिर्फ दिशा बदलनी है।

एक बहुत प्यारी कहानी याद आती है। ठंड के दिनों में सूफी फकीर बायजीद अपने घर के बाहर बैठा धूप सेंक रहा है और कुछ शिष्य उसके साथ बैठे हुए सत्संग कर रहे हैं। अचानक एक पक्षी आता है और रोशनदान में से घर के अंदर घुस जाता है। अब वह पक्षी बाहर निकलना चाहता है लेकिन निकल नहीं पाता है। दीवालों से टकराता है, दरवाजों से टकराता है लेकिन निकल नहीं पा रहा है और यह तमाशा बायजीद देख रहा होता है कि पक्षी बाहर निकलना चाह रहा है। वह पक्षी हर जगह जाता है लेकिन उस रोशनदान तक नहीं पहुंच पा रहा है जिससे भीतर प्रवेश किया था। उस फकीर ने अपने शिष्यों से पूछा कि बताओ यह पक्षी बाहर क्यों नहीं निकल पा रहा है?

लोग तो चुप रह गए लेकिन बायजीद ने खुद जवाब दिया कि इस पक्षी का तर्क यही है कि जिस छेद में से मैं भीतर आया निश्चितरूप से जिसने मुझे भीतर फंसा दिया है, अब उस स्थान से मैं कैसे बाहर आ सकता हूं? यही तर्क सबका है। आसक्ति के द्वार से हम इस जगत में उलझ गए हैं, अब सोचते हैं कि इस आसक्ति को उठाकर बाहर फेक दें, इस आसक्ति से दूर निकल जाएं और विरक्ति को माध्यम बना लें सुखी होने का। नहीं, बात गलत दिशा में चली जाएगी। जिस द्वार से हम भीतर आए हैं उसी द्वार का उपयोग करना होगा बाहर

निकलने के लिए। बहिर्मुखी प्रेम से हम बाहर उलझ गए हैं, परमात्मा से विपरीत चले आए हैं हम। लेकिन अब परमात्मा के करीब जाना है, शांति पाना है, आनंद पाना है। अब हमें अपने प्रेम की दिशा बदलनी होगी, इसे अंतर्मुखी करना होगा जैसे अनेक संतों ने अपने प्रेम को अंतर्मुखी किया।

हमें भी अपने प्रेम को अंतर्मुखी करना होगा, जिस द्वार से हम बाहर गए थे उसी द्वार से हम भीतर लौट सकते हैं। संसार में व्यस्त हो गए थे और परमात्मा की तरफ पीठ हो गई थी। व्यस्तता संसार से जोड़ती है और अव्यस्तता परमात्मा से जोड़ती है। अगर परमात्मा से जुड़ना है तो अव्यस्त होने की कला सीखनी होगी। इसका ये मतलब नहीं है कि हम काम-धाम सब छोड़ देंगे। बहुत लोग सारे कामधाम छोड़कर जंगल की तरफ चल दिए। कोई भी कर्म नहीं रह गया साधु-महात्माओं के पास, कोई योगदान नहीं रह गया उनका इस संसार में। जिस संसार में परमात्मा ने हमें भेजा है उसके प्रति धन्यवाद भाव से भरना होगा। हमें संसार में रहते हुए कर्म भी करना होगा, आसक्त भी कर्म करता है, विरक्त भी, और अनासक्त भी कर्म करता है। आसक्त कैसे काम करता है? कर्ताभाव से। और अनासक्त कैसे काम करता है? अकर्ताभाव से। कर्म वही कर रहा है लेकिन दृष्टिकोण उसका पलट गया है, जो काम आसक्त कर रहा है अनासक्त भी वही काम कर रहा है।

आसक्त पैरों के बल खड़ा है तो विरक्त शीर्षासन करके खड़ा है। अनासक्त दोनों के पार चला गया। न हमें आसक्त होना है, न ही हमें विरक्त होना है, हमें अनासक्त होकर के काम करना है। परमात्मा ही हमारे माध्यम से इस जगत में कुछ करवा रहा है, हम केवल माध्यम हैं। हम जब सृजनात्मक होंगे, तभी परमात्मा से जुड़ेंगे। बिना सृजनात्मक हुए हम परमात्मा से कटे-कटे जिएंगे और परमात्मा से कटे तो निश्चितरूप से संसार से जुड़ जाएंगे। कहीं न कहीं जुड़कर ही हमें जीना होगा, कहीं न कहीं तो हमारा लगाव होगा। जो आसक्ति संसार से लगी है थोड़ी दूरी उससे बढ़ानी होगी और अपनी दिशा बदलनी होगी। जिस दरवाजे से भीतर आए थी उस पर लिखा था 'इन' अब पलटोगे तो दरवाजा तो वही का वही है लेकिन उसमें इस बार 'आउट' लिखा हुआ मिलेगा।

भवजाल से बाहर निकलने का मतलब क्या है, अपने भीतर चले जाना। ये मोहजाल, भवजाल बाहर नहीं है, ये सब हमारे मन के भीतर है इस मन के पार जाना है, उस अ-मन की दशा में जाना है जहां जाकर मीरा गाती है-

मेरा हरि नाम मन लागा, हरि नाम मन लागा,
भाग हमारा जागा, मेरा हरि नाम मन लागा।
मात-पिता सुत कुटुम्ब कबीला टूट गया ज्यों धागा,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा,
मेरा हरि नाम मन लागा, मेरा हरि नाम मन लागा।
ऐसी प्रीत लगी मनमोहन जो सोने में सुहागा,
जनम-जनम का सोया मनवा हरि नाम सुन जागा,
मेरा हरि नाम मन लागा, मेरा हरि नाम मन लागा।

धन्य हैं वे लोग जिनका मन हरि नाम में लग जाता है, जिनकी आसक्ति गोविंद से जुड़ जाती है। मैं शुभकामना करती हूं सबके लिए कि सबकी आसक्ति गोविंद से जुड़ जाए और हम सब भी मीरा की तरह गा सकें कि हरि नाम मन लागा, भाग्य हमारा जागा और इस संसार के भवजाल से पार होकर एक आनंद की जिंदगी जी सकें।

आइए सुनते हैं सद्गुरु ओशो की अमृत वाणी शंकराचार्य के इस सूत्र पर–

'बालक खेल में आसक्त रहता है, युवक तरुणि के प्रेम में आसक्त रहता है और वृद्ध चिंताओं में आसक्त रहते हैं, कभी भी तो मनुष्य परमात्मा के प्रति संलग्न नहीं होता अतः हे मूढ़ सदा गोविंद को भजो। बचपन गुजर जाता है खेल-कूद में, जवानी गुजर जाती है प्रेम के नाम पर चलते हुए खेल में और बुढ़ापा अतीत की चिंताओं में, अतीत का हिसाब-किताब करने में और जीवन यूं ही चला जाता है। परमात्मा की याद ही नहीं आ पाती और परमात्मा को हम टालते चले जाते हैं, स्थगित करते चले जाते हैं कल पर, और कल आती है सिर्फ मौत। परमात्मा की याद भी नहीं कर पाते हैं और मौत आ जाती है। हे मूढ़ सदा गोविंद को भजो इसके पहले कि मौत आ जाए। जब भी होश आ जाए, थोड़ा जगाओ अपने आपको कहां तुम उलझे हो, तुम्हारे कृत्यों का क्या परिणाम हो सकता है। तुम्हारे कृत्य, तुम्हारा धन, तुम्हारी प्रतिष्ठा सब पड़ी रह जाएगी, जो पड़ा ही रह जाएगा उसके साथ बहुत समय व्यय मत करो, जितना जल्दी जाग जाओ उतना ही अच्छा है।

जीवन के प्रति जिसकी आसक्ति नहीं टूटी परमात्मा के प्रति उसकी आसक्ति नहीं जुड़ पाती। जीवन के प्रति अगर तुम बहुत अनुरक्त हो तो तुम परमात्मा को

न पहचान पाओगे। रूप के प्रति जिसकी आसक्ति है वो अरूप को कैसे पहचानेगा, पदार्थ को जिसकी पकड़ है वो निराकार को कैसे पकड़ेगा, पृथ्वी पर जिसका सबकुछ लगा है वो आकाश की तरफ आंख भी नहीं उठा पाता। तुम्हारी आसक्ति अभी जहां है जब तक उससे उसकी जड़ें न टूट जाएं, जब तक तुम जागकर न देख लो कि सिवाय दुख के वहां कुछ भी नहीं है, जब तक तुम्हें जीवन का सार-निचोड़ दुख न दिखाई पड़ जाए, सुख का कितना ही प्रलोभन हो मिलता सदा दुख ही है। सुख के कितने ही आश्वासन हों मिलता सदा दुख है।

सुख की तुम कितनी ही योजनाएं बनाओ वे योजनाएं ऐसी हैं जैसे कोई तेल निकालने की चेष्टा कर रहा हो रेत को निचोड़कर, हाथ में आता कुछ भी नहीं है और हाथ खाली ही रह जाता है। खाली हाथ संसार से जाने की तैयारी हो तो परमात्मा की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं, लेकिन रोते हुए जाओगे। अगर भरे हाथ जाने की तैयारी है तो जितनी जल्दी परमात्मा का स्मरण करो, जितने जल्दी उसमें लीन हो जाओ और जितना ज्यादा से ज्यादा समय और शक्ति उसके स्मरण में लग जाए उतना ही शुभ है। एक ही चीज तुम्हें भर सकती है वह परमात्मा है और उसी भर की तुम चिंता नहीं करते हो। और जिनसे तुम कभी न भर सकोगे उनकी बस तुम चिंता करते हो।'

शंकराचार्य के इस सूत्र का ओशो सिद्धार्थ जी ने हिन्दी पद्य रूपांतरण किया है–

बचपन में क्रीड़ा में उलझे, यौवन में तरुणी पर उलझे,

बूढ़े हो चिंता में खीझे, अहो राम-नाम रस कब पीजै?

जो काल करो सो आज करो, गोविंद भजो गोविंद भजो।

भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

कौन तुम्हारा, तुम किसके?

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज हम आदि शंकराचार्य जी की अमूल्य कृति 'भज गोविन्दम्' के आठवें

सूत्र पर चर्चा करेंगे। वे कहते हैं–

का ते कांता कस्ते पुत्रः संसारोऽयम् अतीव विचित्रः।

कस्य त्वं कः कुत आयातः तत्त्वं चिन्तय तदिह भ्रातः॥८॥

कौन तुम्हारी कांता है? कौन तुम्हारा पुत्र है? यह संसार अत्यंत विचित्र है। तुम किसके हो? कौन हो? कहां से आए हो? मन में इन तत्व की बातों पर विचार तो करो।

ठीक ऐसा ही भगवान बुद्ध का एक वचन है– अत्ताहि अत्तुनम अत्ते, कुतो कुतो कुतो धनम्, कुतो पुत्तो कुतो धनम्। हम अपने भी अपने नहीं हैं तो धन और पुत्र कैसे हमारे हो सकते हैं। मूढ़ कौन हैं? जो धन को, पुत्र को, वस्तुओं और व्यक्तियों को, संबंधों को अपना कहते हैं। जितना ही धन बढ़ेगा, पद पढ़ेगा, यश बढ़ेगा, 'मेरे' होने का भाव बढ़ेगा। लोगों की तरफ, संबंधों की तरफ, वस्तुओं की तरफ भागती हुई चेतना, तृष्णातुर होकर संसार की ओर लगातार भागती हुई चेतना का नाम मूढ़ता है। लेकिन हम दूसरों से अपने होने का एहसास कैसे कर सकते हैं। ये तन-मन तक अपना नहीं है।

कौन होता है बुरे वक्त पे हालत का शरीक,

मरते वक्त आंख को देखा है, गिर जाती है।

ये आंख भी पलट जाती है, ये शरीर भी छूट जाता है। तो हम कैसे मानें कि दूसरे लोग हमारा साथ देने वाले हैं। क्या हम किसी का साथ दे सकते हैं? क्या यह मुमकिन है? किसी शायर ने कहा है–

जाती हुई मैयत देखके भी लिल्लाह तुम उठके आ न सके,

दो-चार कदम तो दुश्मन भी तशरीफ किनारा करते हैं।

चार कदम कोई चल भी गया, मरघट तक छोड़ आया, तो क्या हो जाएगा! चाहे अपने हों, चाहे दुश्मन हों सबकी सीमा है, सब यही छूट जाते हैं, जिनको हम पुकारते हैं 'सोलमेट' वे भी यहीं छूट जाते हैं, कोई साथ नहीं जाता। परमगुरु ओशो कहते हैं ध्यान-साधना का एक अंग है पुनर्विचार, चौबीस घंटे में बैठकर एक बार चिंतन तो करो कि क्या सार्थक है और क्या निरर्थक है। मनन करो कि क्या व्यर्थ है और क्या अव्यर्थ है। लेकिन हम तो कभी बैठकर विचार ही नहीं करते। हम कहां जा रहे हैं, क्यों जा रहे हैं, किसलिए यह सब इकट्ठा कर रहे हैं। संसारी और संन्यासी में यही फर्क है– संसारी भ्रांतियों में जीता है, रंगीन सपने बुनता है और

संन्यासी अपने चित्त के भ्रम-भंजन में समय व्यतीत करता है।

हमें कौन सी मूलभूत भ्रांति ने घेरा है? भ्रांति है कि हमें दूसरे से सुख मिलेगा, हमें भ्रांति है कि दूसरा हमारे बुरे वक्त में काम आएगा इसीलिए मोह पैदा होता है। और जब मोह पैदा होता है तो उसी के पीछे भय भी आ जाता है। जब भ्रम है कि दूसरा सुख देगा तो ये भी निश्चित हो जाता है कि भय लगेगा कि दूसरा छिन न जाए। तो पूरा जीवन भय और मोह के इर्द-गिर्द घूमता रह जाता है। एक बार पुनर्विचार तो करो, एक बार जरा गौर से, फुरसत में सोचकर तो देखो।

है कौन यहां पत्नी बेटा, सब दुर्घटना के हैं शिकार,
तुम आए कहां से जाना कहां, तुम कौन हो पूछो बार-बार,
अब सारे रिश्ते-नाते तजो, गोविंद भजो गोविंद भजो।

एक बार संध्या दर्शन में ओशो से एक युवती ने प्रश्न किया कि हे प्रभु मुझे बहुत डर लगता है कि मुझसे सबकुछ छिन न जाए, क्या करूं? ओशो ने कहा कि तुम्हारे पास क्या-क्या है जरा ख्याल करो, आंख बंद करो और सोचो तुम्हारे पास वास्तव में क्या है। युवती सोचने लगी और फिर आंख खोलकर बोली प्रभु जब सोचती हूं कि मेरे पास क्या है तब ऐसा लगता है कि मेरे पास तो कुछ भी नहीं। ओशो बोले- फिर डर किस बात का! तुम सोचती हो ये धन तुम्हारा है, तुम नहीं थी तब भी ये धन था और तुम चली जाओगी तब भी यह धन रहेगा। मकान तुम्हारे लिए रोने वाला नहीं है। उस बेचारे को मालूम भी नहीं कि वह तुम्हारा है! जिस जमीन को तुम अपनी समझ रही हो, वह चार अरब सालों से यहां है। हम उसी मिट्टी में मिल जाएंगे। मिट्टी यदि कहे कि ये मेरे मनुष्य हैं, तो समझ भी आता है। जब आदमी कहता है कि यह भूमि मेरी है, तो निपट नासमझी की बात कहता है।

हम निश्चितरूप से हर चीज के लिए रोते रहते हैं कि कोई चीज छिन न जाए और व्यर्थ में शंकास्पद जीवन जीते हैं लेकिन जब कुछ भी है ही नहीं हमारे पास तो किस बात का डर, यहां कुछ भी छिनने वाला नहीं है। नदी-नाव संयोग की तरह संबंध यहां बने, उन संबंधों को इतना मूल्य कैसे दे रहे हो! तुम सोचते हो कि संबंध तुम्हारे अकेलेपन को भर देंगे, तुम्हारे खालीपन को भर देंगे तो यह सोचना भी गलत है।

आइए, शंकराचार्य के इस श्लोक पर ओशो की अमृत वाणी सुनते हैं-

'शंकर विचार करने को कह रहे हैं, चिंतन करने को कह रहे हैं, जागने को कह रहे हैं, होशपूर्वक देखने को कह रहे हैं। जल्दी वैराग्य मत ओढ़ लेना,

अन्यथा ओढ़ा हुआ वैराग्य किसी काम नहीं आएगा। विचारपूर्वक तुम्हारे हृदय में प्रकाश हो समझ का, तो राग गिरेगा, कटेगा। अंधेरे को निकालने मत लग जाना, सिर्फ दिया जलाना काफी है। इसलिए शंकर कहते हैं कौन तुम्हारी कांता, कौन है तुम्हारी पत्नी, कौन तुम्हारा पुत्र? राह पर मिले अजनबी हैं सब, जब पुत्र नहीं पैदा था तो कोई परिचय नहीं था। तुमने इसी पुत्र को पुकारा था पैदा हो जाने के लिए जिसे जानते भी न थे, पुकारते कैसे? पता-ठिकाना भी तो मालूम नहीं था, शक्ल-सूरत भी तो पहचानी हुई नहीं थी।

अंजान मिलन, अपरिचित लोगों का मिलन, लेकन आदमी का मन भ्रांतियां पैदा करता है कि मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा भाई, मेरी बहन, इनसे तुम संबंध जोड़ते हो, ये कैसे हो सकता है ये तो बड़ी विचित्र घटना है। कैसे राह पर चलते हुए दो लोग एक हो जाते हैं, एक क्षण पहले अपरिचित थे अब थोड़ी देर को साथ हो लिए। साथ थोड़ी देर का है फिर थोड़ी देर बाद अपनी-अपनी राह पर विदा हो जाएंगे लेकिन उस थोड़ी देर में ही बड़े नाते-रिश्ते बन जाते हैं। इसके पीछे कोई गहरा कारण होगा क्योंकि ये नाते-रिश्ते सस्ते नहीं हैं।

हम सब अपरिचित हैं। वर्षों रहते हैं साथ, फिर भी परिचित नहीं हो पाते। तुम अपनी पत्नी से परिचित हो क्योंकि तीस-चालीस साल साथ रहे? क्या सच में तुम कह सकते हो कि तुमने उसे पूरा जान लिया, क्या तुम ये कह सकते हो कि वह क्या कल करेगी, उसकी भविष्यवाणी कर सकते हो? एक क्षण बाद तुम्हारी पत्नी क्या करेगी चालीस साल साथ रहने के बाद भी कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। अभी मुस्कुराती थी, प्रसन्न थी और अगले ही पल नाराज है, कौन सी ऋतु आ जाएगी कहना कठिन है, कौन सी चित्तदशा पकड़ लेगी कहना कठिन है। पत्नी तुम्हें जानती है? ये ऊपर-ऊपर की पहचान है भीतर कौन किसके जा सकता है। अपने भीतर जाना ही इतना मुश्किल है, दूसरे के भीतर जाना कैसे आसान होगा।

इसका कोई गहन कारण होना चाहिए क्योंकि खूब नाते-रिश्ते हम बना लेते हैं। आदमी अकेला है इसीलिए अकेले में डर लगता है, अकेले में चिंता पकड़ती है, भय पकड़ती है, अकेले होने में बड़ी पीड़ा है। हम अकेले हैं, जमीन भरी-पूरी हो तब भी प्रत्यके व्यक्ति अकेला है, भीड़ में भी तुम हो तब भी अकेले हो, ये अकेलापन काटता है। इस अकेलेपन से ऐसा लगता है कि कैसे बाहर निकलें, इसलिए संबंध बनाते हैं। संबंध रास्ते हैं जिनसे तुम अपने को भूलते हो और

अपने अकेलेपन को भूल जाते हो, इससे थोड़ी देर के लिए ऐसा लगता है कि अकेले नहीं हो।'

कितने भी संबंध बना लो लेकिन ये अकेलापन कभी नहीं भरता। अकेलेपन से हमें एकांत की ओर जाना होगा। अकेलापन हमारी नियति है लेकिन अकेलापन जिसको हम कहते हैं यह एकांत में रूपांतरित हो जाता है। अकेलापन क्या है, जब हम सोचते हैं कि दूसरे के बिना हम कैसे जिएंगे, तो ये है अकेलापन। दूसरे के बिना मन नहीं लगता, दूसरे के बिना हमारा होना हमें पता ही नहीं चलता, घबराहट है, बेचैनी है, डर है, स्वयं की ओर हम लौटना ही नहीं चाहते हैं- ये अकेलापन है।

जिंदगी की राहों में रंजो-गम के मेले हैं,

भीड़ है कयामत की और हम अकेले हैं।

आइने के सौ टुकड़े करके हमने देखे हैं,

एक में भी तनहा थे सौ में भी अकेले हैं।

कितनी भी भीड़ हो, कितने भी संबंध हों तब भी हम अकेले हैं जब इसको हमने स्वीकार कर लिया और फिर हम देखते हैं कि बड़ा रस आने लगा, तो ये है एकांत। अपने होने का आनंद लेने लगे। अकेलेपन से एकांत की यात्रा में जाना होगा तभी ये सारे दुख विदा होंगे। अन्यथा हम दुखी ही रहेंगे। दुखी जिएंगे और दुखी ही मर जाएंगे। कई सिकंदर आते हैं और विश्वविजेता होकर भी दुखी ही मरते हैं। कितने-कितने लोग नाम कमाते हैं, प्रेम पाते हैं, यश कमाते हैं लेकिन सब दुखी मरते हैं, सबके हाथ खाली जाते हैं।

भरे हाथ जाना हो तो हमें किससे संबंध बनाने होंगे? उससे जो हमारे साथ जाता है- गोविंद। कैसे बनेगा यह संबंध? अपने भीतर जाना होगा, अकेले में बैठना होगा, अकेले बैठने की आदत डालो, कुछ न-करने की आदत डालो। तुम जब अकेले बैठते हो तो भी व्यस्त हो जाते हो। व्यस्तता छोड़ो, अव्यस्त होकर कुछ मत करो, अक्रिया में बैठो और बैठते-बैठते एक दिन यह नशा बन जाता है और भीतर एहसास होने लगता है अपने होने का और उस होने के एहसास में गोविंद की अनुभूति हो जाती है। आत्मा की परम दशा है परमात्मा। फिर उसे निरंतर भजने में जीवन के सारे दुख वाष्पीभूत हो जाते हैं। राग विदा हो जाता है, मोह विदा हो जाते हैं। बाहर भागती हुई चंचल-चेतना भीतर आकर विश्राम में डूब

जाती है। इसलिए तो शंकराचार्य कहते हैं कि भज गोविंदम, भज गोविंदम, भज गोविंदम मूढ़मते। इसी सूत्र को ओशो सिद्धार्थ ने कुछ इस अंदाज में कहा है–

नाम है प्यारा गोविंद का, नाम खजाना आनंद का,
काल का पहिया चलता जाए, कोई नहीं बच पाए,
सुख-सुविधा के इंतजाम में, हीरा जीवन गंवाये,
मजा है हमेशा इस क्षण का, नाम खजाना आनंद का।
सागर की पहचान अगर हो, गागर में आ जाता,
सुमिरन की हो दिशा सही, पल में शाश्वत आ जाता,
क्षण प्रतिबिंब सनातन का, नाम है प्यारा गोविंद का।
क्षण-क्षण जीवन आगे बढ़ता, क्षण-क्षण मृत्यु आती,
क्षण का हो यदि बोध, जिंदगी ऊर्जा से भर जाती,
हर पल दर्शन साजन का, नाम है प्यारा गोविंद का।

अंत में आप सबके भीतर विराजमान उस परम तत्व को, गोविन्द को प्रणाम करती हूं। आपको उस संपदा की याद दिलाती हूं। वह जरा भी दूर नहीं, अंतस में मौजूद है। चौबीस घंटे में कम से कम एक घंटा निकाल लो समय, उसके लिए। धीरे-धीरे रसमग्न होने लगोगे। आत्म-परिचय हो जाएगा। आनन्द का खजाना उपलब्ध हो जाएगा। उसे प्राप्त कर लेना ही एकमात्र प्रतिभा है, बुद्धिमत्ता है। शेष सब मूढ़ता है। वही चैतन्य रूपी प्रभु तुम्हारा है। और कुछ भी तुम्हारा नहीं है जगत में।

भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

सत्संग के तीन सोपान

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज 'भज गोविन्दम्' के नौवें श्लोक पर हम चर्चा करेंगे। याद रहे कि ये प्रवचन केवल बौद्धिक चर्चाएं नहीं हैं। इन श्लोकों में साधना के सूत्र छिपे हैं, उन्हें उघाड़ना है, जीना है, ताकि रूपांतरण घट सके। इन्हें दार्शनिक बातें न समझना, सिद्धांत की तरह न देखना, कुछ सिद्ध या असिद्ध नहीं करना है। इन्हें मेडिसिनल जानना, औषधि समझना। इनसे मनुष्य का आंतरिक रोग ठीक हो सकता है। आत्मिक स्वास्थ्य उपलब्ध हो सकता है। आदि शंकराचार्य जी की दृष्टि में मनुष्य का बड़े से बड़ा रोग है- मोह, मेरेपन का भाव। आज वे उसी बीमारी की चिकित्सा की तरफ संकेत कर रहे हैं-

सत् संगत्वे निस्संगत्वं निस्संगत्वे निर्मोहत्वम्।

निर्मोहत्वे निश्चल चित्तं निश्चलचित्ते जीवनमुक्तिः॥९॥

अर्थात् सत्संग से निस्संगता पैदा होती है और निस्संगता से अमोह। अमोह से चित्त निश्चल होता है और निश्चल चित्त से जीवन-मुक्ति उपलब्ध होती है।

सत्संग क्या है? सत् को जानने वाले का संग, जो सत्य में जीता है उसके संग उठना-बैठना। जिसका जीवन सत्य में रम गया है उसके साथ रहना। ठीक वही अर्थ है जो उपनिषद का है। 'उपनिषद' शब्द का अर्थ है गुरु के पास, गुरु के साथ, जिसने जान लिया है, जिसके जीवन के फूल खिल गए हैं, जिसके प्राण का दीप जल गया है उसके निकट होना। लेकिन होने भर से बात नहीं बनेगी, समर्पण उसका राज है। समर्पण के बीज से ही सत्संग का फूल खिलता है। जब हम खुले हृदय से बैठते हैं किसी के चरणों में तब सत्संग घटित होता है। और आश्चर्य कि ऐसे लोगों के संग रहकर निस्संगता फलित होती है! जिनके जीवन का उद्देश्य सत्य की खोज है उन साधकों का संग भी सत्संग है। ओशो सिद्धार्थ जी ने इस श्लोक का काव्यानुवाद इस प्रकार किया है-

कामना हरे सत्संग वही, जब काम नहीं तो मोह नहीं।

जब मोह नहीं तो मन निश्चल, जीवन-मुक्त होता है अचल।

अब साधु संग सत्संग करो, गोविंद भजो, गोविंद भजो।

कुसंग की परिभाषा भी समझ लो- सत्संग से ठीक उल्टी स्थिति। जिन लोगों के बीच उठने-बैठने से कामनाएं बढ़ने लगें, वासनाएं भड़कने लगें, मन चंचल होने लगे, उन्हें कुसंगी जानना। अक्सर हम जिन्हें अपने लोग कहते हैं, मित्र समझते हैं, वही लोग हमारी लोभ की वृत्ति में वृद्धि करने वाले होते हैं। बीमार लोग बीमारी फैलाने वाले होते हैं। और आश्चर्य कि इन मनोरोगियों से हमारा मोह बन जाता है।

वासना में मदद पहुंचाने वालों से अपनत्व पैदा हो जाता है। क्योंकि हम रोग को रोग मानते ही नहीं। माता-पिता अपनी अधूरी इच्छाएं बच्चों पर थोप देते हैं। संतान के कंधों पर रखकर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की बंदूक चलाना चाहते हैं। शिक्षक इस कार्य में सहयोगी बनते हैं। पूरी शिक्षा प्रणाली, एम्बीशंस के खतरनाक कीटाणु संक्रमित करने की व्यवस्था है।

राजनेता, समाज के ठेकेदार, आशीर्वाद देने वाले चमत्कारी धर्मगुरुओं का जंजाल, कामनापूर्ति करने वाले देवी-देवताओं के नाम पर धंधा चला रहे पुरोहितों का गिरोह, इन सबकी मिली-भगत से इच्छाएं भड़काने का षड्यंत्र चल रहा है। इस सुनियोजित इंतजाम से भोले-भाले बच्चे का बच पाना दुष्कर है। बचपन में ही वह बुरी तरह सम्मोहित हो जाता है। शत्रुओं को वह हितैषी मानता है। रोग प्रसारित करने वालों को अपना समझता है। लोभ-वृद्धि करने वालों से उसका मोह हो जाता है। ऐसी विकट दशा में सत्संग कितना कठिन है! कामना नष्ट करने वाला दुश्मन प्रतीत होगा।

आइए, इस सूत्र-संदर्भ में परमगुरु ओशो की अमृतवाणी सुनते हैं-

'सत्संग से निस्संगता पैदा होती है। इसे तुम सत्संग की परिभाषा समझो, सत्संग वही जहां निस्संगता पैदा हो। जहां संबंध पैदा हो जाए, राग बन जाए वो सत्संग न रहा, वो कुसंग हो गया। सत्संग का अर्थ ही यह है कि तुम्हें सत्य दिखाई पड़े, सत्संग का अर्थ यही है कि तुम्हारा सपना टूटे, आंखें खुलें। गुरु की खोज बस इसी बात के लिए है कि कोई तुम्हें जगा दे तुम्हारे सपने से और तुमने जो संबंध बना रखे हैं उसे कोई तुम्हें बता दे कि ये सब भ्रांत हैं। इन सपनों में खोकर अपना जीवन मत गंवा देना और इन संबंधों में अपनी आत्मा को मत डुबा देना। ये बस कामचलाऊ हैं, इन्हें अतिशय मूल्य मत दे देना। इतना मूल्य मत दे देना कि अपने को ही मिटाने को तत्पर हो जाओ। जानते रहना कि औपचारिक हैं, आवश्यक हो सकते हैं संसार में लेकिन अंतस जगत में बिल्कुल भी आवश्यक नहीं हैं। वहां तुम न तो अपने पिता को साथ ले जा सकोगे, न अपने बेटे को, न अपने भाई को, न मित्र को, न पत्नी को, वहां तुम अकेले ही जाओगे। इसलिए संबंधों में रहते हुए भी जानना कि तुम्हारा शुद्ध स्वरूप तो अकेला होना है। यह सत्य भूल न जाए, कहीं एकांत का सूर्य संबंध की बदलियों में बहुत ज्यादा दब न जाए, खो न जाए। सत्संग से निस्संगता पैदा होती है और निस्संगता से अमोह। और जब तुम पाते हो कि तुम अकेले हो फिर कैसा मोह?

अमोह से चित्त निश्चल होता है और जब कोई मोह नहीं होता तो चित्त डांवाडोल नहीं होता।

मैंने सुना है एक भवन में आग लगी, जिसका मकान था वह छाती पीटकर रोने लगा। लेकिन भीड़ में से किसी ने कहा कि मत रोओ, व्यर्थ में रो रहे हो, तुम्हें शायद पता नहीं कि तुम्हारे बेटे ने कल ये मकान बेच दिया। आंसू रुक गए रोने वाले के, रोना बंद हो गया लेकिन मकान अब भी जल रहा है लेकिन अब कोई रोना नहीं है क्योंकि मकान अपना नहीं है। लेकिन तभी बेटा भागा हुआ आया और बोला कि कल बात हुई थी लेकिन अभी बेचा नहीं है। अब फिर आंसू बहने लगे, फिर वह आदमी छाती पीटकर रोने लगा कि मैं तो लुट गया, मकान अब भी वही है। मकान में लगी आग से थोड़ी रो रहा है। मकान से जो संबंध है वही रुलाता है, वही उलझाता है। मकान में आग लगी हो तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, तुम्हारा न हो तो क्या फर्क पड़ता है।

बेटा मरे लेकिन अगर तुम्हारा न हो तो क्या फर्क पड़ता है। तुम्हारा है इससे फर्क पड़ता है, बेटे के मरने से थोड़ी आंसू आते हैं, मेरा मरा इससे आंसू आए। अगर तुम्हें पता चल जाए कि मेरा कोई भी नहीं है तब दुख गया, मोह के साथ ही दुख चला जाता है। अगर तुम्हें साफ-साफ पता चल जाए कि तुम बिल्कुल अकेले हो तो चित्त निश्चल हो जाता है। फिर चित्त में चंचलता नहीं रह जाती, तब तुम थिर हो जाते हो, वही थिरता परम अनुभूति है। उसी थिरता में तुम जान पाते हो कि तुम कौन हो, जीवन का आत्यांतिक प्रश्न सुलझता है कि मैं कौन हूं? ज्योति थिर होती है और समाधान हो जाता है, उस थिरता को ही हमने समाधि कहा है। समाधि क्यों? क्योंकि सब समाधान हो जाता है।'

आपने यह प्रसिद्ध दोहा सुना होगा–

'बिन सत्संग विवेक न होई, रामकृपा बिन सुलभ न सोई।'

यानि सत्संग के बिना विवेक नहीं होता। और प्रभुकृपा के बगैर सत्संग नहीं मिलता। विवेक क्या है? सार्थक और निरर्थक को पहचानने की क्षमता ही विवेक है, प्रज्ञा है। जीवन में व्यर्थ तथा अर्थपूर्ण की पहचान जब होने लगती है तब हम भीतर की ओर मुड़ जाते हैं। फिर एक और गहरा विवेक पैदा होता है वह आंतरिक सत्संग है। चैतन्यमय प्रभु, आत्म-स्वरूप विद्यमान है। हमारे भीतर ही परमात्मा का, सत्य का आवास है। उस चेतना का संग ही सत्संग है। बाहर गुरु का संग, इसी असली सत्संग की ओर उन्मुख करता है, अंतर्यात्रा पर भेज देता है।

फिर दुसंग क्या है? बहिर्मुखी मन की लहरों के संग बह जाना। जब हम मन की वासनाओं का साथ पकड़ लेते हैं तब हम कुसंग में चले गए। जब हम आत्मा का साथ पकड़ लेते हैं तो सत्संग में चले गए। यही है सत्संग का राज। और फिर एक ऐसा चमत्कार घटित होता है कि निस्संगता पैदा हो जाती है। बुद्ध कहते हैं कि द्वीप जैसे बन जाओ। द्वीप का अर्थ है सागर में एक छोटा-मोटा अलग-थलग जमीन का टुकड़ा। ऐसे ही संसार रूपी संबंधों के सागर में साधक को अपने अकेलेपन में रमना चाहिए। यह है सत्संग के बाद का राज। आरंभ में तो प्रयास से होगा, गुरु-प्रेरणा से होगा। एक बार जब रस लग जाएगा तो फिर सहज फलित होगा।

जब हम असंग होते हैं, मौन-एकांत में डूबते हैं, जब हम संबंधों के जाल से मुक्त होकर स्वयं में रमते हैं, अपने-आप में ठहर जाते हैं; तो शुरु में तो कुछ खास नहीं होता लेकिन धीरे-धीरे बड़ा रस आने लगता है। आनन्द मिलने लगता है अपने-आप में। पहले जीवन-ऊर्जा दूसरों को ढूंढ़ रही थी, दूसरों का साथ पकड़ रही थी, दूसरों के मोह में पड़ रही थी; क्योंकि भ्रम था कि दूसरों में रस है इसलिए मोह था। जब अपने भीतर रस झरने लगता है तो मोह स्वयंमेव टूट जाता है। जब हाथ में हीरा आ जाए तो क्या समझाना पड़ता है कि अब कंकड़-पत्थर फेंको।

निर्मूल्य वस्तुएं खुद ही छूट जाती हैं मूल्यवान हाथ में आ जाने से। मन का स्वभाव है कि जहां रस मिलेगा वहीं भागेगा। जब बाहर रस मिलता था अथवा मिलने का भ्रम था तब वह बाहर भागता था। लेकिन बाहर रस मिल-मिलकर भी छूट जाता था, भ्रम बांरबार टूट-टूट जाता था। गुरु के कहने पर वह तलाश में गया भीतर कि रस मिलेगा और उसे वहां रस मिला, तब बहिर्मुखता खुद ही तिरोहित हो गई। यही सत्संग का प्रभाव है- निस्संगता फलित हो गई। भीतर जब रसमग्न होता है तो वह अंतस में ठहरने की कला सीख जाता है। ओशो के प्रवचनों में आई यह प्यारी सूफी बोधकथा सुनो-

एक बादशाह परमात्मा को खोज में था। किसी सूफी फकीर के पास सलाह लेने जाता है। उस समय फकीर किसी काम से बाहर गया होता है और उसकी पत्नी घर में होती है। राजा पूछता है कि क्या मैं फकीर से मिल सकता हूं? फकीर की पत्नी ने कहा कि अभी तो वे मौजूद नहीं हैं, मैं उन्हें बुला लाती हूं आप कृपया

बैठिए। राजा बोला कि आप फकीर को बुलाकर लाएं, मैं इंतजार करता हूं। वह आंगन में लगी बगिया में टहलने लगता है। पत्नी जाती है फकीर को बुलाने के लिए और फकीर से कहती है कि आपसे मिलने राजा आए हैं, कृपया घर चलिए। वैसे मुझे तो यह राजा कुछ सनकी-सा, सिरफिरा-सा लगता है।

फकीर ने पूछा कि वह तुम्हें क्यों सिरफिरा लगता है? पत्नी ने कहा कि इतना बेचैन और चंचल है कि एक घड़ी को बैठ नहीं सकता, लगातार आंगन में चल रहा था, चलता ही जा रहा था। फकीर हंसा और बोला कि तुमने उसे बैठने के लिए कहा? पत्नी ने कहा कि हां, निश्चित ही कहा। पति ने पूछा कि तुमने उसे बैठने के लिए कुछ दिया? पत्नी ने बताया कि जो सबसे सुंदर चटाई थी, वह उसे बैठने के लिए दी। फकीर हंस पड़ा, बोला- पगली, राजा तो अपने योग्य आसन पर बैठेगा न, हमारी चटाई पर कैसे बैठेगा! हम फकीरों की 'सबसे सुंदर चटाई' उसकी नजरों में फटी-पुरानी, मैली-कुचैली, अस्पर्शनीय चीज है। सम्राट तो सिंहासन पर विराजमान होते हैं।

ठीक यही हालत हमारे मन की है। संसार में मन कहीं भी नहीं लगता, हमेशा चंचल रहता है, परमात्मा ने इसे ऐसा ही बनाया है। यह मन तब बैठता है, जब उसे परमात्मा का सिंहासन मिल जाता है। जब उसे परम मां की, परम पिता की गोद मिल जाती है तब वह निश्चल होकर बैठता है। उसे इतना रस आता है कि बाहर जाना भूल जाता है। आनंदमग्न हो जाता है। और जब भीतर रस मिल गया तो अमोह उत्पन्न हो जाता है, बाहर से सारे मोह टूट जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि संबंध नहीं रहते, इसका मतलब यह नहीं है कि हम प्रेम नहीं करते। तब प्रेम का मतलब हो जाता है देने का भाव।

वास्तविक प्रेम दान है। लोभ भीख है। किसी से कितना मिल सकता है, लेने का भाव लोभ है। लोभ-पूर्ति के साधन से अपनत्व का भाव मोह है। प्रेम के लिए अंग्रजी में जो शब्द है लभ, उसकी स्पैलिंग पर गौर करना- एल.ओ.भी.ई- उसका सही उच्चारण लोभ होना चाहिए। वह संस्कृत के लोभ शब्द का अपभ्रंश है। हमारा प्रेम लोभ का ही अच्छा नाम है। ध्यान में रसमग्नता पाकर भी जगत के प्रति हम प्रेम में होते हैं, लेकिन अब देने के भाव में होते हैं। अब हमारे पास बहुत कुछ होता है और उसे हम लुटाना चाहते हैं, बेशर्त देना चाहते हैं, यही है सच्चा प्रेम। लोभ और मोह से रहित प्रेम की दशा में सारी आपाधापी खो जाती है, भागदौड़ खत्म हो

जाती है। अमोह के बाद चित्त निश्चल हो जाता है- सब ठहर गया, थम गया।

किसी शायर ने कहा है-

दरीचां बेसदा कोई नहीं है, अगरचे बोलता कोई नहीं है।

खुली हैं खिड़कियां घर की लेकिन, गली में झांकता कोई नहीं है।

मैं ऐसे जमघटे में खो गया हूं, जहां मेरे सिवा कोई नहीं है।

रुकूं तो मंजिलें ही मंजिलें हैं, चलूं तो रास्ता कोई नहीं है।

रुकते ही मंजिल मिल जाती है। निश्चल चित्त में प्रवेश करते ही तो जीवन मुक्ति घट जाती है। गुरु तेगबहादुर ने गाया है- मान मोह दोनों को परहरि गोविंद के गुण गाओ।

मान और मोह, मान यानि अहंभाव- मैं, ईगो, और मोह यानि मेरापन, अटैचमेंट। पुरुष का रोग है मैं-भाव। मैं शक्तिशाली हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं यशस्वी हूं, मैं ऊंचे पद पर हूं। स्त्री का रोग है मेरा-भाव। मेरा पति, मेरा बेटा, मेरा धन, मेरे गहने, मेरा घर। जब हम निश्चल चित्त में ठहरते हैं तो इन दोनों रोगों के पार अपने-आप हो जाते हैं। वही स्वस्थ होना है। स्वयं में स्थित होना समाधान है। 'स्व' से दूर जाती, दूसरों की ओर भागती जीवन-ऊर्जा अस्वस्थ है।

अक्सर हम सोचते हैं कि बुद्ध को जब मुक्ति मिल गई तब वे निश्चल होकर बैठे, तब वे थमकर बैठे। हम तो कामनाग्रस्त हैं, अभी कैसे बैठ जाएं? पहले सारी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा तो कर लें, फिर आराम से बैठेंगे। लेकिन सचाई यह है कि जब वे थमकर, निश्चल होकर बैठे तब उन्हें मुक्ति उपलब्ध हुई। तभी वे निर्वाण को प्राप्त हुए, तभी उनके बंधन खुले। जब तक सांसारिक अथवा धार्मिक दौड़ में संलग्न थे, वे भी परेशान, पीड़ित, चिंतित थे, रोगग्रस्त थे। मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि मरने के बाद कोई मुक्त होता है, जीवन रहते हुए मान और मोह दोनों के पार चले जाने का नाम जीवन-मुक्ति है। वही निर्वाण है, मोक्ष है, बुद्धत्व है, ब्रह्म-ज्ञान है।

संक्षेप में सत्संग के तीन सोपान समझ लें। पहला- संघं शरणं गच्छामि, यानि साधुओं का संग-साथ। निर्वासना की ओर अग्रसर साधकों की, खोजियों की संगत। दूसरा- बुद्धं शरणं गच्छामि, यानि जाग्रत व्यक्ति का, निष्काम हो चुके,

अनासक्त व्यक्ति का संग। तीसरा- धम्मं शरणं गच्छामि, यानि अपने भीतर सत् का संग। धम्म अर्थात् स्वयं के भीतर उद्घाटित परम सत्य, जीवन का नियम, ताओ, ऋत। सत्संग का शुभारंभ होगा पहली सीढ़ी से, साधु-संगत में खोजने से। दूसरी सीढ़ी, खोजते-खोजते सद्गुरु से मिलन होगा। आखिरी पायदान, गुरु द्वारा बताए मार्ग पर अंतर्यात्रा करने से, ध्यान में डूबकर आंतरिक सत्य का ज्ञान होगा। ऐसे निश्चल चित्त में निमग्न होने पर आत्म-रमण की अवस्था में गोविंद ही गोविंद शेष बचता है। सर्वत्र परमात्मा! भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

ज्ञानी को संसार कहां?

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आदि शंकराचार्य जी का दसवां सूत्र यथार्थ जगत, और स्वप्नलोक के संदर्भ में है। सम्मोहित होकर जो हम देखते हैं, और वस्तुतः जो है, उनमें जमीन-आसमान से भी बड़ा अंतर है। वासना का चश्मा चढ़ाकर देखने से जो दिखाई देता है, वह चश्मे के रंग में रंग जाता है। हमारे पूर्वाग्रह, विश्वास, भरोसे, विगत अनुभव, भावी अनुमान सत्य को देखने नहीं देते। हमारी आशाएं, मान्यताएं, महत्त्वाकांक्षाएं, कामनाएं आदि हमारी दृष्टि को दूषित कर देती हैं। वास्तविक लोक से बहुत भिन्न, हम अपने-अपने निजी सपनों के जगत में जीते हैं। शंकराचार्य कहते हैं-

वयसि गते कः कामविकारः शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः॥१०॥

ओशो इस सूत्र के बारे में क्या मार्गदर्शन देते हैं, आओ उनकी अमृतवाणी सुनते हैं-

'उम्र बीतने पर कामवासना क्या? पानी के सूख जाने पर तालाब कहां? और धन के नष्ट हो जाने पर परिवार कौन है? वैसे ही तत्वज्ञान होने पर संसार कहां? अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।

तत्व ज्ञान होने पर संसार कहां? शंकर, महावीर या बुद्ध सीधे ही संसार की बात करते हैं तो तुम समझ लेते हो कि ये जो चारों तरफ फैला हुआ है इस विस्तार की बात कर रहे हैं, तो तुम गलत समझ रहे हो। इस विस्तार से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। जब भी वे कहते हैं संसार तो उनका अर्थ है तुम्हारे मोह ने जो जाना, तुम्हारे मोह ने जो बनाया है, तुम्हारे अज्ञान से जो उपजा, तुम्हारी मूर्च्छा से जो पैदा हुआ वही संसार है। ये वृक्ष तो फिर भी रहेंगे, ये पहाड़, चांद-तारे तो फिर भी रहेंगे, तुम जाग जाओगे तब भी रहेंगे, ये नहीं मिटने वाले।

जब कोई परमज्ञान को उपलब्ध होता है तो क्या संसार मिट जाता है लेकिन ये चांद-सूरज, तारे, पहाड़ का क्या होता है? ये मिटते नहीं, वस्तुतः पहली दफा ये अपनी शुद्धता में प्रगट होते हैं वही शुद्धता परमात्मा है। तब चांद नहीं दिखता, तब हमें चांद में परमात्मा की रोशनी दिखती है, तब वृक्ष नहीं दिखते, वृक्षों में परमात्मा की हरियाली दिखती है, तब फूल नहीं दिखते, परमात्मा ही खिलता हुआ दिखता

है, तब ये सारा विराट परमात्मा हो जाता है। अभी तुम्हें परमात्मा नहीं दिखता, संसार दिखता है। और संसार एक नहीं है, यहां जितने मन हैं उतने संसार दिखते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना संसार है।

तुम्हारी पत्नी मरेगी तो तुम रोओगे, कोई दूसरा न रोएगा। दूसरे उल्टे तुम्हें समझाने आएंगे कि आत्मा तो अमर है क्यों रो रहे हो? दूसरे उल्टे समझाने आएंगे, वे मौका न चूकेंगे अपना ज्ञान बघारने का, ऐसे मौके कम ही मिलते हैं। तुमको ऐसी दीन दशा में देखकर थोड़ा उपदेश जरूर देंगे। वे कहेंगे कौन अपना है कौन पराया है, क्यों रो रहे हो? कभी उनकी पत्नी मरेगी तब तुमको भी मौका मिलेगा, तब जाकर तुम भी उनको उपदेश दे आना कि कौन किसका, ये संसार तो सब माया है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना संसार है। तुम्हारे चित्त का जो मोह है, मूर्च्छा है, तुम्हारा जो अज्ञान है, तुम्हारी जो आसक्ति है, राग है वही तुम्हारा संसार है। उस आसक्ति, राग, मोह, मूर्च्छा के माध्यम से तुमने जो देखा है वह सब झूठ है, वह सच नहीं है। आंख पर जैसे पर्दे पड़े हैं, धुएं के बादल घिरे हैं। शंकर कहते हैं तत्वज्ञान हो जाने पर संसार कहां? केवल सत्य बचता है। लेकिन सत्य में तुमने जितना जोड़ दिया था, बस वह खो जाता है। सदा गोविंद को भजो। भज गोविंदम् भज गोविंदम् भज गोविंदम् मूढ़मते।'

इस संसार में परमात्मा ने हमें शरीर दिया और उसके साथ मन भी दिया है। ये सब हमें उपहार स्वरूप मिला है। मन को हमारे सेवक के रूप में प्रदान किया लेकिन यह सेवक, यह दास हमारा मालिक बन बैठा। और जब मन हमारा मालिक बन बैठा, हम मन के गुलाम बन गए तब हम संसारी हो गए। ये मायावी फैलाव हमारा संसार है। इस संसार में माया का विस्तार कैसे हुआ? लोग सोचते हैं कि माया बाहर है, बाहरी जगत से मुक्ति पानी है। नहीं, माया बाहर नहीं भीतर है, यह मन ही माया है।

एक प्रयोग किया जाता है, स्याही रोसा उसका नाम है। स्याही के धब्बों को कागज पर डाल दिया जाता है और फिर उसे आपस में मिलाकर चित्र बना दिया जाता है। तब लोगों को कहा जाता है कि इसे देखो। बड़ी-बड़ी विचित्र बातें पता लगती हैं। वही एक चित्र किसी को भयावह दिखाई देता है क्योंकि वह भय से ग्रस्त था। उसी चित्र को कोई कामग्रस्त युवक देखता तो उसे सुंदर युवती दिखाई देती।

एक बच्चा देखता है तो उसे घोड़ा-हाथी और पता नहीं क्या-क्या दिखाई देता है! सबके अपने-अपने प्रक्षेपण हैं। वाकई में तो वहां केवल स्याही के धब्बे हैं।

एक बार हम बगीचे में घूमने गए, बहुत सारे लोग साथ गए थे। बच्चे थे, युवक थे, युवतियां थीं, बूढ़े थे। कुछ कवि थे, कुछ वैद्य थे, हम सब साथ ही गए थे। बगीचा सबको बहुत अच्छा लगा। मैंने लोगों से पूछा कि आपको बगीचे में क्या-क्या दिखाई दिया? तो बच्चों को तो दिखाई दे रही थी खेल-कूद की सामग्रियां, उड़ती हुई तितलियां, फिसलनी-झूले वगैरह में वे व्यस्त हो गए थे। युवकों से पूछा तो उनको सुंदरियां दिखाई दे रही थीं। युवतियों से पूछा तो उनको युवक दिखाई दे रहे थे। वैद्यराज जी वृद्धजनों को तरह-तरह की औषधियों वाले वृक्ष दिखला रहे थे। एक कवि महोदय थे उन्हें सुंदर-सुंदर फूल और पक्षियों की बोली सुनाई दे रही थी। एक संत भी साथ में थे, वे तो समाधिस्थ हो गए.... क्या परमात्मा का एक्सप्रेशन है, कैसी सुंदर उसने दुनिया बनाई है!

संत जब दुनिया को देखता है तो वह देखता है कि जैसे नर्तक का नृत्य, ठीक ऐसे ही संसार उसे परमात्मा का ही विस्तार दिखाई देता है। निराकार प्रभु का साकार रूप! उसे यह संसार देखकर परमात्मा की याद आ जाती है, वह शांत चेतना की दशा में डूब जाता है। और हमें यह संसार देखकर तरह-तरह के सुख-दुख याद आ जाते हैं, चित्त उत्तेजना से भर जाता है। मन के चश्मे से जब हम इस अस्तित्व को देखते हैं तो यह संसार है। संसार हमारी मूर्च्छा में है। हमारी निद्रा में माया है। जब हम सो जाते हैं तो सपने आते हैं और नींद टूटते ही सपना टूट जाता है। ठीक ऐसे ही जब परम जागरण, बुद्धत्व घटित हो जाए तो यह संसार टूट जाता है और तत्व-ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। तत्व ज्ञान के लिए लोग सोचते हैं कि बाहर चलो तन से लड़ो, कि मन से लड़ो, चलो तपस्या करो, कि उपवास करो, तरह-तरह के कष्ट दो शरीर को, समाज की सुख-सुविधाओं से भागो तो शायद ब्रह्मज्ञान हो जाए। तत्व ज्ञान नींद के टूटने से होता है, जागरण के घटित होने से होता है। जागरण का दीपक जल जाए, प्रज्ञा का दीपक जल जाए तब तत्व ज्ञान घटित होता है।

एक सम्राट के बारे में सद्‌गुरु ओशो कहानी सुनाते हैं कि उसका बेटा बहुत दिनों से बीमार है। बेहोश है, मरणासन्न है। चिकित्सकों ने जवाब दे दिया है। संभवत: आज अंतिम रात है। एक ही बेटा है जिसे वह प्राणों से ज्यादा चाहता है। उसकी रानी भी बैठी अश्रुधार बहा रही, बस अंतिम घड़ियां गिन रही है। बड़ा मातम छाया हुआ है। सम्राट रोते-रोते थक जाता है और उसे नींद आ जाती है। कई

रातों से वह सोया भी नहीं था। नींद में वह सपना देखता है कि उसके बारह राजकुमार हैं और उन राजकुमारों के साथ वह खुशियां व आनंद मना रहा है। विशाल महल हैं, वह चक्रवर्ती सम्राट है। सम्पत्ति और शक्ति की पराकाष्ठा पर है। उसके पास विराट सेनाएं हैं।

...और तभी उसके बेटे की मृत्यु हो जाती है। रानी की चीख निकल जाती है। पत्नी की आवाज सुनकर वह अचानक जागता है, कि क्या हुआ? वह कहती है कि देखो बेटे की मृत्यु हो गई। सम्राट बिल्कुल चुप बैठा रह जाता है। मौन, सन्नाटा! मानो समझ ही नहीं आ रहा कि क्या हो गया! रानी उसे हिलाती है। वह सम्राट को झकझोर कर कहती है कि क्या बेटे की मृत्यु के सदमे से तुम पागल हो गए हो? कुछ तो बोलो, कुछ तो कहो। सम्राट कहता है कि क्या कहूं, किसके लिए रोऊं मैं? उन बारह बेटों के लिए जो अभी मेरे साथ उत्सव मना रहे थे, तुम्हारी चीख सुनते ही वे सब अनायास खो गए। अथवा यह एक बेटा जो खो गया है, अब मैं किसके लिए रोऊं? जब मैं सपने में था, तो इसे भूल गया था। जब सपना टूटा तो वे गायब हो गए। वे सुंदर महल, सारी धरती का साम्राज्य, बारह राजकुमार। कौन सच, कौन झूठ?

साधाारण नींद की तरह ही एक गहन आध्यात्मिक नींद भी है, जिसमें सब जी रहे हैं। उससे जागते ही संसार-रूपी सपना टूट जाता है। उस जागरण का नाम ही ध्यान है। वह कैसे घटित हो? मूर्च्छा कैसे टूटे? मायावी स्वप्नों से कैसे जागें? धर्म की सारी साधना इसी ओर इंगित करती है। यह आत्मिक जागरण ही अध्यात्म का साध्य है।

मैंने सुनी है एक प्राचीन लोककथा-

लाखों वर्ष पूर्व एक आदिवासी कबीले में लोग अंधकार से बहुत परेशान थे। दिन को तो जानवरों से अपनी रक्षा कर लेते थे, भोजन तलाश लेते थे। रात्रि में खतरों से घिर जाते थे। जंगली खूंखार पशुओं का आक्रमण होता, भागने में गड्ढों में गिर जाते। वहां के बुजुर्ग लोगों ने सोचा कि अगर हम सब लोग रात में एक-एक बरतन ले लें और भर-भरकर अंधकार को बाहर फेक दें तो शायद एक दिन ऐसा आएगा जब हम अंधकार से मुक्त हो जाएंगे। जब रोज शाम को अंधेरा हो तो वे सब लोग अपनी-अपनी बाल्टी लेकर आते और रात भर सब लोग अंधकार को बरतन में भरकर दूर जंगल में ले जाते और फेंक आते। लेकिन सफलता कुछ भी हासिल न होती। उस कबीले के एक युवक की शादी किसी अप्सरा से हो गई। अप्सरा जब बहू बनकर आई और पहली ही शाम को

जब अंधेरा छाने लगा तो उसने दो पत्थरों को आपस में रगड़ा, आग पैदा हो गई फिर उसने दीपक जला दिया। कबीले के लोगों ने देखा कि अंधेरा गायब हो गया, सारे लोग खुशी से उत्सव मनाने लगे कि अरे, ये तो चमत्कार हो गया! ये जादू कैसे हो गया, दो पत्थरों को आपस में रगड़ा और ऐसा कमाल हुआ कि सारा अंधेरा गायब हो गया।

ऐसे ही जब हम ध्यान का दीपक जलाते हैं तो अज्ञान का अंधेरा मिट जाता है और तत्व ज्ञान हो जाता है। अंधकार की तरह माया का भी कोई अस्तित्व नहीं है। उस भ्रांति से लड़ा नहीं जा सकता। उसे जीता नहीं जा सकता। जैसे एक कांच के ग्लास में आधा पानी भरा हो और उसमें अगर हम चम्मच डाल दें तो चम्मच तिरछी दिखाई देने लगती है। अब ये ग्लास भी सत्य है, पानी भी सत्य है, प्रकाश भी सत्य है और प्रकाश के अपवर्तन का नियम भी सत्य है, हमारी आंख भी सत्य है और हमारा देखना भी सत्य है, सब कुछ सत्य है। फिर क्या सत्य नहीं है? यह जो आभास हो रहा है, चम्मच तिरछी दिखाई दे रही है यह असत्य है। ऐसे ही माया एक आभास मात्र है। तत्व ज्ञान होते ही जो मिथ्या आभास है वह खत्म हो जाता है। जिस रस्सी को हम सांप समझ बैठे थे वह फिर से रस्सी ही दिखाई देने लगती है। यही संसार परमात्मा दिखाई देने लगता है। इसी संसार को देखकर फिर कुछ ऐसा गीत जन्मेगा–

न जाने कौन बगियों से हवा लहराती आई है!
कहूं क्या कौन कुसुमों की महक ये साथ लाई है!

ये रस की धार हर जगह है, सांसों में फिजाओं में,
हर पेड़ों की छावों में, कोयल की सदाओं में,
अरे ये सब दिशाओं में,
वही भीतर वही बाहर, वही चहुं ओर छायी है,
न जाने कौन बगियों से हवा लहराती आई है।

अनहद की गूंज सर्वव्यापी, बस्ती में निर्जन में,
प्रेम से पूर्ण हृदय में, अहम् से शून्य मन में,

अरे ये सृष्टि के कण-कण में,
कोई अज्ञेय स्वर लहरी, अनोखा गीत गाई है,
न जाने कौन बगियों से हवा लहराती आई है।

फिर इसी संसार में जब हवाएं चलती हैं तो उन्हीं की सरसराहट परमात्मा का संगीत बनकर सुनाई देती हैं। जब कोयल कूकती है तो उसके विरह का गीत हमारे प्रेमल हृदय को भेद जाता है। सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देता है। उसके सिवाय सब भ्रम है। ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या। हमारा तथाकथित जगत एक आभास मात्र है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। जब सपना टूटता है तो वास्तविक संसार मात्र बचता है जो परमात्मा का साकार रूप है। इसी चांद की चांदनी परमात्मा का आशीर्वाद बनकर हमें स्पर्श करने लगती है। इसलिए ऐ मेरे मन! सदा गोविंद को भजो। उसकी याद से भरो। सत्य की प्यास हमें जगा देती है। सत्य का स्मरण, असत्य से मुक्ति बन जाता है। भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

अहं से ब्रह्म की ओर

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

शंकराचार्य जी का वचन है-

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं हरति निमेषात् कालः सर्वम्।
मायामयम् इदमखिलं हित्वा ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा॥११॥

धन, जन और युवावस्था का गर्व मत करो, क्योंकि काल उन्हें क्षण मात्र में हर लेता है। इस संपूर्ण मायामय प्रपंच को छोड़ कर तुम ब्रह्मपद को जानो और उसमें प्रवेश करो।

क्या है माया? जो बेहोशी में जीता है वह माया में जीता है। जोसुआ लेबनान के जीवन की यह घटना सुनो। युवा होने पर उसने अपने जीवन में जो कुछ पाना चाहा उसकी सूची बनाई। उसने वह लिस्ट बनाई जिसे जिंदगी में कोई व्यक्ति पाकर धन्य हो जाता है। उस लिस्ट में था सौंदर्य, सुयश, उच्च पद, शक्ति, संपत्ति, प्रेम, परिवार, स्वास्थ्य, वगैरह-वगैरह। उसने ठीक से एक बार उस लिस्ट को पढ़ा और सोचा कि इसके पहले कि मैं इन्हें पाने का प्रयत्न करूं किसी बुजुर्ग की सलाह ले लूं। एक ज्ञानी सज्जन के पास जाता है और पूछता है कि मैंने अपने जीवन में क्या प्राप्त करने जैसा है उसकी तालिका तैयार की है। मैं उन्हें पाकर आनंद को उपलब्ध होना चाहता हूं। आप एक बार यह सूची देखकर मार्गदर्शन देने की कृपा करें। उस बुजुर्ग ने पूरी लिस्ट को गौर से देखा और बेदर्दी से सारी लिस्ट को काट दिया। और उसकी जगह उसने तीन शब्द उस कागज पर लिखे, 'पीस आफ माइण्ड' और कहा कि जिसको पाने से सारी चीजें मिल जाती हैं वही लिस्ट में तुमने छोड़ दिया है। 'मन की शांति' मिल जाए तो बाकी सब कुछ अपने आप चला आता है। शांति है तो वास्तविक सौंदर्य है, आंतरिक प्रतिष्ठा है, आत्म-शक्ति है, स्वास्थ्य है, सच्ची संपत्ति है। उसके बिना कुछ भी नहीं। शांति में, ध्यान में, परमात्मा में सब कुछ समाया है। किंतु लोग उसे भूलकर शेष सब चाहते हैं, तथा अपना जीवन व्यर्थ गंवाते हैं। जोसुआ ने इस घटना का उल्लेख अपनी जीवनी में किया है। आत्मज्ञान ही असली धन है। ब्रह्मपद ही वस्तुतः पद है। बाकी सब धोखा है, माया है।

प्रभुताई को सब लखें, प्रभु को लखे न कोई,
जो कोई नर प्रभु को लखे, प्रभुता दासी होई।

प्रभु के आने से सारा साम्राज्य चला आता है लेकिन लोग साम्राज्य का चाहते हैं, प्रभुता को चाहते हैं, यश को चाहते हैं, पद को चाहते हैं, धन को चाहते हैं लेकिन जिसका सबकुछ है प्रभु का, जो कि स्वयं परम ऐश्वर्यवान है उसे कोई नहीं चाहता। जिसने भी उसे चाहा उसके जीवन में सबकुछ आ गया। उसका जीवन आनंद से, परमधन से भर गया। शंकराचार्य कहते हैं- धन-जन व युवावस्था का गर्व मत करो। लोग जवानी में घमंड से भरे होते हैं। इतना ही नहीं, पिछली फोटो देखते रहते हैं कि देखो पहले मैं कैसा दिखता था, अहा, मैं ऐसी दिखती थी! पूरी उम्र गुजर जाती है लेकिन कभी ये ख्याल नहीं आता कि ये रूप जो है जिसके लिए हम गर्व कर रहे हैं, वह समाप्त होता जा रहा है। रूप अब जो नहीं रहा और अभी का रूप जो है क्या यह भविष्य में रहेगा? क्या कभी मौत नहीं आएगी, धीरे-धीरे हम मौत की ओर सरक रहे हैं यह बात कभी किसी को ख्याल में नहीं आती, यह बात कभी किसी को नहीं सताती कि हम धीरे-धीरे क्रमशः मृत्यु की ओर जा रहे हैं। जिस दिन से पैदा हुए हैं उसी दिन से मरना शुरु हो जाता है। अचानक थोड़ी मौत आती है! बच्चनजी ने गाया है-

स्वागत के ही साथ विदा की होती देखी तैयारी,

बंद लगी होने, खुलते ही, मेरी प्यारी मधुशाला।

इधर स्वागत हुआ और उधर विदा की तैयारी होने लगती है, इधर बारात आई और उधर डोली उठने की तैयारी होने लगती है। ऐसा है जीवन और लोग माया में, लोभ के प्रपंच में पड़े रहते हैं। धन का गर्व करते हैं। जन को, भीड़ को, सम्मान को पकड़ते फिरते हैं। यौवन को ढलने में तो कुछ दशक लगते हैं, मगर धन-जन के खिसकने में तो कभी-कभी क्षण भी नहीं लगता। अचानक शेयर के दाम गिरते हैं, करोड़पति मात्र पति रह जाते हैं! नेता समझते हैं कि जनता उनकी तरफ है, चुनाव में जमानत जब्त हो जाती है।

गुरुनानक एक गांव में पहुंचते हैं, वहां के लोग उनके दर्शन को आते हैं। गरीब ग्रामीण नानक जी से शिकायत करते हैं कि यहां का जमींदार उन्हें बहुत तंग करता है। बड़ा सूदखोर है वह, गरीबों का बड़ा शोषण करता है। नानक ने सोचा कि इनके लिए कुछ करना चाहिए। नानक उस धनवान के घर पहुंचे। जमींदार तो नानक को देखकर प्रसन्न हो गया। उसने नानक को प्रणाम करके कहा कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं? धन्यभाग कि आप मेरे घर पधारे, मेरे लायक कोई सेवा बताएं। नानक ने कहा कि मेरा एक छोटा सा काम करना होगा तुम्हें। मेरे पास एक सुई है और इस सुई को मैं तुम्हें सौंपता हूं, जब कभी

मैं इसको मांगने आऊं, तब तुम इसे वापिस लौटा देना। धनवान बोला कि बस, इतनी सी बात है। नानक बोले कि बस इतना सा ही काम है।

कुछ दिन बाद उस गांव से वापिस जाने का समय आने लगा, जमींदार नानक से मिलने आया और बोला कि आज तो आप जा रहे हैं गांव छोड़कर क्या अब मैं आपकी सुई वापस कर दूं? नानक ने कहा नहीं, अभी सही समय नहीं आया है, जब मैं मांगूंगा तब देना। मैं मागूंगा जरूर, मृत्यु के बाद परलोक में तुम्हें यह सुई मुझे देनी होगी। वह धनवान बोला कि मृत्यु के बाद भला परलोक में मैं यह सुई तुम्हें कैसे दे सकता हूं? नानक बोले कि तुमने तो इतना धन इकट्ठा किया है और मुझे तो लगता है कि ये सारा धन साथ ले जाने का तुम्हें कोई गुर पता है तभी तो तुम इतना शोषण करते हो और इतनी संपदा का अंबार लगाते जा रहे हो, शायद तुम्हें कोई रास्ता पता होगा सब बटोरकर संग ले जाने का। तो एक छोटी सी सुई मेरी भी साथ में लिए चलना। जमींदार समझ गया कि नानक मजाक कर रहे हैं, उसे यह बात सुई की तरह ही चुभ गई। वह नानक के चरणों में गिरा और बोला कि मुझसे गलती हो गई, मैं भ्रम में जीता था, मैं माया में जीता था, जब मैं एक सुई नहीं ले जा सकता तो इस धन के अंबार का क्या करूंगा? वह नानक का शिष्य हो गया। उसने अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति गांव के लोगों में बांट दी।

सत्य में प्रवेश करने के लिए सत्य को सत्य की तरह देखना बहुत जरूरी है। देखो कि यह शरीर आज है और एक दिन नहीं रहेगा, यह जो धन है यह साथ नहीं जाएगा, ये जो यश है यह सदा नहीं रहेगा। तुम्हें लगता होगा कि इतने सारे व्यक्ति हमें प्रेम करते हैं, कितना सम्मान करते हैं। यह आदर किस पल तिरोहित हो जाएगा, प्यार सपने की भांति टूट जाएगा, पता भी न चलेगा। राजनीतिज्ञों को लगता है कि पूरा देश हमारे साथ है, कितने लोग हमें चाहते हैं। लेकिन जिस दिन पद नहीं रहता तो कहां गायब हो जाते हैं वे लोग? खोजने से भी न मिलेंगे। उन्हें सत्ताधिकारी से मतलब है। अब जो ताकत में है, वे उसके इर्दगिर्द मंडरा रहे होंगे। मार्ग में मिल जाओगे तो नमस्कार भी न करेंगे।

चर्चिल का यह संस्मरण सुनो। उसका कहीं प्रवचन है और बहुत सारे लोग सभागार में बैठे हुए हैं। मित्र ने खुश होकर चर्चिल को बधाई दी कि गजब हो गया, पांच हजार श्रोताओं की भीड़ एकत्रित हुई है। चर्चिल अपने दोस्त से कहता है कि मुझे मालूम है, ये मुझे सुनने नहीं आए हैं, इन्हें तो मनोरंजन के लिए कहीं न कहीं जाना ही है। ये तो उस समय भी आएंगे जब मुझे फांसी दी जा रही होगी। तब शायद तमाशा देखने के लिए पांच की जगह पचास हजार इकट्ठे हो जाएं। ये

मेरे प्रेम की खातिर नहीं आए, मेरे पद के कारण आए हैं।

इतनी समझ कम नेताओं में होती है। जब तक पद है तब तक वहम बना रहता है कि लोगों का मान-सम्मान, प्रेम मिल रहा है। फिर सारी की सारी चीजें अनायास छूट जाती हैं। अक्सर तो ठीक उल्टा होता है। जितनी प्रतिष्ठा थी, उतना ही अपमान प्राप्त होता है। पांसा पलटते देर नहीं लगती। इस सत्य को जो ग्रहण करता है उसी का ब्रह्मपद में प्रवेश होता है।

ब्रह्मपद में कैसे प्रवेश संभव हो? निर्अहंकारिता में जागना होगा। अहंकार है- दूसरों की उपस्थिति में खुद के होने का अहसास। खुदी की भावना। 'मैं' कुछ खास हूं। सबसे भिन्न और पृथक हूं। दूसरे, दूसरे हैं। मैं, मैं हूं।

यहां तक कि जब धर्म के नाम पर हम कुछ दूसरों के लिए करते हैं तो ऐसा हमें भ्रम होता है, कि हम सेवा कर रहे हैं, हम मंदिर बनवा रहे हैं, धन बांट रहे हैं। लेकिन अगर हम लोगों को दिखाने के लिए कर रहे हैं, अपना सम्मान बढ़ाने के लिए कर रहे हैं, अहंकार को दृढ़ करने के लिए कर रहे हैं तो ये दान आदि भी पुण्य नहीं है। ये हमें नर्क की गर्त में ले जाने वाला है, ब्रह्म से दूर ले जाने वाला है। क्योंकि दूसरा, दूसरा है, यह भावना इसमें बनी ही हुई है। पापी दूसरों को कष्ट पहुंचाने के लिए दुष्कर्म करता है, पुण्यात्मा दूसरों को सुखी करने का प्रयत्न करता है। किंतु दोनों ही दूसरे को दूसरा मानते हैं। स्वयं को स्वयं मानते हैं।

जितने अहं भाव में हम जिएंगे उतने ब्रह्म से दूर होते जाएंगे, जितने हम निर्अहंकार भाव में जिएंगे उतने हम ब्रह्म में प्रवेश करते जाएंगे। ब्रह्म में निमज्जित होना है तो अकर्ताभाव में जियो। परमात्मा हमसे अगर किसी की सेवा करा रहा है तो मैं माध्यम बना हूं। उसका धन्यवाद। हमारे द्वारा किसी के लिए कुछ हुआ, किसी ने हमारी सेवा स्वीकार की, किसी ने हमारा उपहार स्वीकार किया उसके लिए अहोभाव। संसार के संबंध फिर भी संबंध रहते हैं लेकिन अहंकार से ग्रसित संबंध नहीं रहते। ये पत्नी, ये पति, ये बच्चे, ये रिश्तेदार सब वैसे ही रहते हैं, लेकिन किसी पर अपना अधिकार नहीं होता, संबंध भी उपहार हो जाते हैं। परमात्मा के द्वारा दिए गए उपहार हो जाते हैं। जीवन मात्र प्रभु की एक भेंट दिखने लगता है। जीवन की क्वालिटी, गुणवत्ता ही बदल जाती है। दृष्टि क्या बदली कि पूरी सृष्टि ही परिवर्तित हो जाती है। यही पेड़-पौधे, यही चांद-तारे, यही बहती हवाएं, यही कल-कल करती सरिता की आवाज, ये सब परमात्मा की पुकार लगने लगती हैं। उसकी याद में डूबना हो जाता है। बाग में कोयल कूकती है और हृदय गोविंद की स्मृति से भर

जाता है। जब हम परमात्मा की याद में सतत जीने लगते हैं तो हमारा ब्रह्मपद में प्रवेश हो जाता है। ओशो सिद्धार्थ जी ने हिंदी रूपांतरण किया है-

धन जन यौवन का गर्व व्यथा है काल बने पौरुष थोथा,

है मायामय संसार सकल, है ब्रह्म सत्य, जग है धोखा।

अब सारे झूठ प्रपंच तजो, गोविंद भजो गोविंद भजो।

आइए, इस संदर्भ में परमगुरु ओशो की अमृतवाणी सुनते हैं-

'जोर ही क्या था, जफाए-बागवां देखा किए

आशियां उजड़ा किया, हम नातवां देखा किए

कोई जोर नहीं, कोई सामर्थ्य नहीं, कोई शक्ति नहीं। बगीचा उजड़ता रहेगा और तुम्हें खड़े होकर सिर्फ देखना पड़ेगा, तुम कुछ कर न सकोगे। घर उजड़ता रहेगा और तुम निरीह और असहाय देखते रहोगे, कुछ कर न सकोगे। पूरी जिंदगी ऐसी ही कथा है। रोज उजड़ेगा बगीचा। यह वसंत सदा न रहेगा। यह युवावस्था सदा न रहेगी। यह गति और यह शक्ति सदा न रहेगी। रोज शक्ति क्षीण होती चली जाएगी। घर उजड़ेगा। और धीरे-धीरे मौत करीब आएगी। जीवन थोड़ी देर का सपना है। मौत प्रतिपल पास सरकती आती है। जिस दिन से पैदा हुए हो, उसी दिन से मर भी रहे हो। जन्म का दिन ही मौत का दिन भी है। टाल न सकोगे, भाग न सकोगे, मौत पास चली आती है।

'धन, जन और युवावस्था का गर्व मत करो।'

वह अहंकार थोथा है। सभी अहंकार थोथे हैं। थोथापन ही अहंकार का स्वभाव है। जो अपना नहीं है, उसे अपना मान लेता है; जो टिकना नहीं है, उसे स्थायी मान लेता है; जो बहा जा रहा है, आंख बंद किए मानता चला जाता है कि बह नहीं रहा है, ठहरा है।

एक-एक बूंद करके जीवन चुकता जाता है, खाली होता जाता है। इसको तुम जीवन मत कहो, अन्यथा झूठ हो जाएगा। इसको तुम धीरे-धीरे आती मौत कहो, आहिस्ता आती मौत कहो। जन्मदिन मत मनाओ, सभी मौत के दिन हैं। और जिस दिन तुम अपने जन्मदिन में मौत को देख लोगे और जीवन में मृत्यु की पगध्वनि सुन लोगे, उस दिन तुमने सत्य जाना। वही सत्य मुक्तिदायी है। उस सत्य को जानते ही तुम किसी और खोज में लग जाओगे। धन व्यर्थ मालूम होगा; शरीर व्यर्थ मालूम होगा; धन और शरीर के संबंध व्यर्थ मालूम होंगे; धन और शरीर के आधार पर खड़ा हुआ संसार व्यर्थ मालूम होगा। और सत्य को जानने

के पहले असत्य को असत्य की भांति जान लेना जरूरी है।'

जब तक अहंकार है तब तक ब्रह्म के दर्शन नहीं होते। जैसे आंख में कचरा पड़ गया और पलक बंद हो गई तो विराट पर्वत भी नहीं दिखाई देता है। विशाल पहाड़ भी दिखाई नहीं देते छोटी सी किरकिरी के कारण। ऐसे ही अहंकार बहुत छोटा है, बड़ा सूक्ष्म है लेकिन इस सूक्ष्म अहंकार के कारण विराट परमात्मा से हम वंचित रह जाते हैं। और हम जीवन को ऐसे ही व्यर्थ गंवा देते हैं।

मैंने सुनी है एक चिड़िया की कहानी। ऊंचे आकाश में उड़ रही और उसके मन में आया कि सुंदर-सुंदर बादलों को छूने का मजा लिया जाए। चिड़िया खूब उड़ती है। श्वेत बादल हैं उनको छूने के प्रयास में उड़ती चली जाती है। जैसे-जैसे उड़ती है बादल और-और बिखरते जाते हैं। वह उड़ते-उड़ते थक जाती है फिर भी बादल को छू नहीं पाती। अंततः सारे बादल छिटक गए और हाथ में कुछ नहीं आया। उस चिड़िया ने कहा कि मैंने क्षणभंगुर बादल को पकड़ने की कोशिश की इसलिए कुछ हाथ नहीं आया क्यों न मैं पर्वत-चोटियों को स्पर्श करूं जो शाश्वत हैं।

सनातन को पकड़ें। उसमें प्रवेश करें यही है ब्रह्मपद में प्रवेश। अहम् यानि जो नहीं है, मगर होने का झूठा आभास देता है। ब्रह्म यानि वह जो सच में है, जिसका अस्तित्व है। आदि शंकराचार्य अनस्तित्व से अस्तित्व की ओर जाने का, सपने से सत्य में जागने का इशारा कर रहे हैं। भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

आशा का जहर

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज हम शंकराचार्य जी के बारहवें सूत्र पर चर्चा करने जा रहे हैं-

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर वसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छति आयुः तदपि न मुञ्चति आशावायुः॥12॥

दिन और रात, संध्या और सुबह, शिशिर और वसंत, फिर-फिर आते हैं और जाते हैं। इसी तरह काल का खेल चलता है और अनजाने उम्र समाप्त होती जाती है। फिर भी आशा रूपी वायु पीछा नहीं छोड़ती।

धर्म का संबंध न तो अतीत से है और न ही भविष्य से, धर्म का संबंध वर्तमान से है। वर्तमान का क्षण प्रभु का द्वार है और वर्तमान से हमें आशा तोड़ती है। आशा हमें चलाती है भविष्य की ओर, आशा हमें सपनों की ओर ले जाती है। आशा का मतलब है कि कल कुछ अच्छा होगा, आज दुख है तो निश्चितरूप से कल विदा हो जाएगा। आज तो सपना टूटा लेकिन कल ये सपना फिर जुड़ जाएगा, शीघ्र साकार होकर रहेगा। और इस तरह से नये-नये सपने देखते-देखते ये जीवन चलता रहता है। बचपन से युवावस्था आ जाती है, युवावस्था से प्रौढ़ हो जाते हैं, प्रौढ़ से वृद्ध हो जाते हैं और एक दिन मौत के मुंह में पहुंच जाते हैं। लेकिन मौत के पास जाकर भी आशा बनी रहती है, आशा कभी नहीं छूटती। उमर खय्याम की एक कविता का भाव है कि मैंने बहुत जगह जाकर पूछा ज्ञानियों से, मौलवियों से, आचार्यों से, पंडित-पुरोहितों से; अनेक द्वारों पर जाकर पूछा कि मनुष्य दुखी क्यों है? किंतु खाली हाथ ही लौटना पड़ा क्योंकि कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला कि मनुष्य क्यों दुखी है। एक दिन तंग आकर, निराश होकर मैंने आकाश की ओर आंख उठाई और आकाश से कहा कि हे आकाश! तू तो सब देख रहा है, अरबों-खरबों लोग तेरे सामने पैदा हुए, मरे और इस बीच कैसे-कैसे सपनों में जिए, कितने लोगों का सपना चूर-चूर हो गया, कितने लोगों के प्रेम का इंद्रधनुष छिटक-छिटक गया लेकिन तू ही बता कि मनुष्य इतना दुखी रहते हुए जीता कैसे है? आकाश ने कहा कि मनुष्य जिंदा है आशा के सहारे, आशा उसे जीने के लिए मजबूर करती है।

जाग प्यारे मौज-मस्ती है मनाती जिंदगी,
इस फना के बाग को कुछ पल सजाती जिंदगी।

मुक्त हो जा मृत्यु से तू राम रस का पान कर,

क्या पता किस वक्त कब हो जाए प्यारे जिंदगी।

कब ये जिंदगी हाथ से फिसल जाए इसका कोई भरोसा नहीं है। अगर हमें सत्य का बीज बोना है तो झूठ के बीज बोने बंद करने होंगे। हमें जानना होगा, हमें देखना होगा कि हम पैदा हुए तब क्या था, बड़े हुए, फिर प्रौढ़ हुए तथा कैसे सब चीजें हाथ से फिसलती जा रही हैं। ये शरीर एक दिन समाप्त हो जाएगा, ये सचेतन रूप से समझना होगा। हम सोचते हैं कि मौत तो दूसरे को आती है और हम केवल देखते रहते हैं, कई लोगों को मरघट तक पहुंचा आए हैं। बीमारी दूसरे को लगती हैं, हम तो उनके हालचाल पूछने अस्पताल जाते हैं।

क्या आप जानते हैं कि बुद्ध कैसे जागृत हुए, कैसे बोध उपलब्ध हुआ? वे एक युवकों की सभा में बोलने जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक बीमार व्यक्ति को देखा और अपने सारथी से पूछा 'क्या एक दिन ऐसे ही मैं भी बीमार हो जाऊंगा?' बूढ़े को देखा तो पूछा कि क्या एक दिन ऐसे ही बूढ़ा मैं भी हो जाऊंगा? सारथी को कहना पड़ा 'हां राजकुमार, आप भी एक दिन बूढ़े हो जाओगे।' फिर किसी की अर्थी देखते हैं और पूछते हैं कि क्या एक दिन मैं मर भी जाऊंगा, सारथी ने कहा 'हां, एक दिन आप भी मर जाओगे। अशुभ वचन बोलना तो नहीं चाहिए, किंतु आपसे झूठ भी नहीं कह सकता। सब मरते हैं और आपको भी मरना होगा।' ऐसा सुनकर बुद्ध की आशा मर गई और उसी दिन वे संन्यस्थ हो गए। महल छोड़कर जंगल चले गए, सत्य की तलाश में, सनातन की खोज में। छः वर्ष बाद आत्म-ज्ञान को उपलब्ध हुए। जिसे भी सत्य की तलाश करना है उसे झूठ से दिल बहलाना छोड़ना होगा, सपनों में जीना छोड़ना होगा। हमें तो पता ही नहीं चलता कि हमारा जीवन कैसे बीतता जाता है।

आइए सुनते हैं परमगुरु ओशो इस बारे में क्या कहते हैं-

'दिन और रात, संध्या और सुबह, शिशिर और वसंत, फिर-फिर आते हैं और जाते हैं। इसी तरह काल का खेल चलता है और अनजाने उम्र समाप्त होती जाती है। फिर भी आशा रूपी वायु पीछा नहीं छोड़ती।'

आशा जहर है। उसी जहर के सहारे तुम मरने को जीवन समझे बैठे हो। आज दुख है, मन कहता है, कल सब ठीक हो जाएगा। आज सुख नहीं है, मन कहता है, जरा रुको; कल आता है, सब ठीक हो जाएगा। और ऐसे ही मन तुम्हें

अब तक चलाए लाया है—आशा के सहारे। जिस दिन तुम आशा छोड़ दोगे, उसी दिन जाग जाओगे। आशा सपना है।

तुमने कभी खयाल किया कि आशा का क्या काम है जीवन में?

आशा कहती है, आज की फिक्र छोड़ो! आज जो हो गया, हो गया; लेकिन कल निश्चित स्वर्ग मिलने को है। इसी आशा ने यहां तक भी तुम्हें समझा दिया है कि यह जीवन अगर गया तो कोई फिक्र नहीं, मरने के बाद स्वर्ग है। वह भी सब आशा का ही विस्तार है।

आशा कहती है—कल! आशा कहती है—भविष्य!

और जीवन और जीवन की क्रांति यदि घटनी है, तो अभी घटनी है और यहीं घटनी है। कल के भरोसे मत बैठो। कल कभी आता नहीं। कल झूठ है। और कल का जो भरोसा दिला रही है आशा तुम्हारे भीतर, वही सपने का सूत्र है; उससे ही सपनों का ताना-बाना फैलता है। आज ही करना है जो करना है; आज ही होना है जो होना है। आज से ज्यादा की आशा मत रखो।

पहले तो बड़ा धक्का लगेगा, क्योंकि आशा टूटेगी तो तुम्हें लगेगा कि तुम बिलकुल निराश हो गए। तुम कहोगे, यह तो बड़ी निराशा घेर ली। लेकिन अगर तुम निराशा के साथ रहने को राजी हो जाओ, तुम जल्दी ही पाओगे—जिसके जीवन से आशा चली गई, उसके जीवन में निराशा ज्यादा देर नहीं रह सकती; क्योंकि निराशा आशा का ही दूसरा पहलू है, वह आशा के साथ ही जाएगा। जिसके जीवन से आशा चली गई, उसके जीवन से निराशा भी चली जाती है। फिर न आशा होती है, न निराशा। वही थिरता है। वहीं ज्योति बीच में ठहर जाती है। फिर कोई कंपन नहीं होता। वही निष्कंप चेतना की दशा है।

'दिन और रात, संध्या और सुबह आते और जाते हैं। इसी तरह काल का खेल चलता है। अनजाने उम्र समाप्त होती है। फिर भी आशा रूपी वायु पीछा नहीं छोड़ती। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।'

तुम तो परमात्मा में भी आशा बांध लेते हो।

मेरे पास लोग आते हैं; मैं उनसे कहता हूं, आशा छोड़ कर ध्यान करो। वे कहते हैं, आशा ही छोड़ दें, तो फिर हम ध्यान ही क्यों करेंगे! आशा से ही ध्यान करने आए हैं—कि ध्यान से मन को शांति मिलेगी, परमात्मा मिलेगा, समाधि होगी।

अब बड़ी जटिलता है। आशा से बाधा पड़ेगी। क्योंकि जब तुम आशा कर रहे हो, तब तुम ध्यान नहीं करोगे, आशा ही करोगे; दोनों साथ-साथ नहीं कर सकते। थोड़ी देर ध्यान करोगे, लेकिन भीतर कोई झांक-झांक कर देखता ही रहेगा कि अभी तक शांति नहीं मिली, अभी तक कुछ हुआ नहीं! तीन दिन गुजर गए, अभी तक कुछ हुआ नहीं! अभी तक आनंद का कोई अनुभव नहीं हुआ!

तुम ऐसा ही समझो कि मैं तुमसे कहूं कि आओ, नदी चलें, तैरने में बड़ा आनंद है। तुम कहो निश्चित! तैरने में आनंद है? मैं भी आता हूं। लेकिन तुम तैरो कम और भीतर आशा बनाए रखो कि आनंद कब मिलेगा? अभी तक नहीं मिला! आधी नदी भी पार कर ली, अभी तक नहीं मिला! यह तो दूसरा किनारा भी करीब आने लगा, अभी तक नहीं मिला!

मिलेगा ही नहीं। क्योंकि आनंद का एक स्वभाव है कि तुम जब उसे नहीं खोजते, तभी वह तुम्हें खोजता है। जब तक तुम उसे खोजते हो, तब तक वह तुम्हें नहीं मिलता। क्योंकि जब तक तुम खोजते हो, तब तक तुम वर्तमान में नहीं होते, तुम्हारा मन तो कहीं और है—भविष्य में—अब मिलेगा, अब मिलेगा। और वह अभी मिलता है। जब तुम खोजते ही नहीं, जब तुम शुद्ध इस क्षण में होते हो—न कोई आशा, न कोई अपेक्षा, न कोई आकांक्षा, न कोई अभीप्सा—जब तुम इस क्षण में होते हो, तभी तुम पाते होः सब तरफ से बरस गया। बरस ही रहा था, तुम मौजूद न थे; तुम गैर-मौजूद थे; तुम अनुपस्थित थे; तुम भविष्य में भटकते थे आशा के सहारे, और आनंद यहां बंट रहा था, तुम कहीं और भटक रहे थे, मेल न हो पाया।

जिस दिन तुम वर्तमान में होते हो—और वर्तमान में होने का एक ही उपाय हैः सारी आशा, सारी आकांक्षा छूट जाए।

तो मैं उनको कहता हूं—ध्यान करो, आशा मत रखो; ध्यान को साधन मत बनाओ, ध्यान को साध्य समझो; करने में ही आनंद मानो, और आनंद मत मांगो; फल की आकांक्षा मत करो। अगर तुम कोई भी कृत्य बिना फल की आकांक्षा के कर सको, वही कृत्य ध्यान हो जाएगा। कृष्ण ने अर्जुन को गीता में इतनी सी ही बात कही है, बार-बार दोहरा कर रही है, अनेक-अनेक रूपों में कहीं है—कि तू फलाकांक्षा मत कर। बस फलाकांक्षा ही संसार है। फलाकांक्षा का त्याग मोक्ष है। संसार से भागने की कोई भी जरूरत नहीं, बस फलाकांक्षा गिर जाए; तब तुम यहीं रहोगे और संसार मिट जाएगा।'

सद्‌गुरु बोलते हैं कि आशा-निराशा के पार जाओ, आशा को तोड़ो तो तुम्हें लगता है कि ये कैसी बातें कर रहे हैं! हम आशा को तोड़कर निराशा में कैसे जिएंगे, जिंदा कैसे रहेंगे? लेकिन वस्तुतः आशा को छोड़ने पर निराशा में नहीं जाओगे। जब तक आशा है तब तक निराशा है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, एक ओर आशा है तो दूसरी ओर निराशा है। आज अगर आप किसी चीज के प्रति आशा से भरे हो तो निश्चितरूप से कल उसी के प्रति निराश होओगे। आशा और निराशा के बीच चलते हुए तुम्हें जीवन का पता भी नहीं चलेगा और ये जीवन बस यूं ही बीत जाएगा। बीत रहे वक्त के प्रति जगाने वाले किसी गीतकार की ये पंक्तियां सुनो-

जाने कितना जीवन पीछे छूट गया अंजाने में,
अब तो कुछ कतरे हैं बाकी सासों के पैमाने में।
सांसों की तिस्मार इमारत, यादों के बेजार खंडहर,
जाने क्यों बैठे हैं तनहा, हम ऐसे वीराने में।
इस बस्ती में आकर हमने कुछ ऐसा दस्तूर सुना,
अक्ल की बातें करने वाले, होंगे पागलखाने में।

जाने क्यों बैठे हैं तनहा हम ऐसे वीराने में? भीड़-भाड़ से ऊब गए तो एकांत खोज लिया। अकेलेपन से घबरा गए तो बाजार में पहुंच गए। गृहस्थ और संन्यस्थ, घर और मंदिर के द्वन्द्व के पार भी कुछ है या नहीं?

आशा-निराशा के पार उठकर विवेक का उदय होता है। वह समझ आने से ही अध्यात्म की शुरुआत होती है। वह प्रज्ञा फलित होने से ही ध्यान का शुभारंभ होता है। हमारी हालत कुछ ऐसी है कि पूरब भी जाना है और पश्चिम भी जाना है। द्वंद के बीच पिसता जा रहा है आदमी। कबीर ने कहा न- दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय। संसार भी चाहिए, धन भी चाहिए, परमात्मा भी चाहिए मोक्ष भी चाहिए। चलती चाखी देखकर दिया कबीरा रोय। आशो शैलेन्द्र जी ने लिखी है गजल-

सब है, फिर भी कुछ खो रहा है आदमी
होना था क्या, क्या हो गया है आदमी?

इस तरफ कुंआ और उस तरफ खाई है
बीच में तलवार पर चल रहा है आदमी।
जिंदगी तो बस यूं ही नाम की है जिंदगी
अनचाहे बोझ सी ढ़ो रहा है आदमी।
आंखों को मूंदकर, सपनों में डूबकर
बारुद के ढ़ेर पर सो रहा है आदमी।
जितना सुलझाओ उतना उलझ जाता है
धागों के गुच्छे सा हो गया है आदमी।
जीने के नाम पर, मरने को राजी है
हंसने की चाहत में रो रहा है आदमी।
पूरब भी जाना और पश्चिम भी जाना है
द्वंद्व में ही टूटता जा रहा है आदमी।
कश्ती में छेद हैं, सागर में आंधियां
आशा का जहर पी सो रहा है आदमी।
कितने रोज आते हैं कितने चले जाते हैं
मौत से बेखबर काल खो रहा है आदमी।
सब कुछ कर सकता चाहे जो बन सकता
आदमी भर हो नहीं पा रहा है आदमी।

कितने रोज जन्मते हैं, मरते हैं, कितने लोग रोज प्रेम करते हैं, नफरत करते हैं लेकिन फिर भी ये आशा नहीं टूटती है। काल से बेखबर काल हो रहा है आदमी। काल यानि समय। काल यानि मृत्यु भी। समय में जो जन्मा है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। जिसको यह मृत्यु बोध हो जाए उसकी आशा टूट जाएगी। आशा एक अफीम का नशा है। जो आदमी जितना आशा से भरा होगा उतना ही मूर्च्छित होगा। सोचेगा कि आज हम दुख में है तो कल सुख मिलेगा। जितना ज्यादा दुख उतनी ज्यादा आशाएं। जब हम सुखी हो जाते हैं, समृद्ध हो जाते हैं तब आशा कम होती जाती है। अगर थोड़ा भी भीतर विवेक हो तो अनुभव बताता है कि सब कुछ तो मिल गया, सारी दुनिया मिल गई लेकिन फिर भी कुछ नहीं मिला।

प्रगाढ़ समझ विकसित करनी होगी इसके पहले कि मौत आए। मरने के पूर्व आशा को कैसे मारें इस कला को सीखना होगा। बोध के तलवार से आशा को खत्म कर दें। पतंजलि ने कहा है- चित्त वृत्तियों का निरोध करो तभी ध्यान घटित होगा, तभी बोध आएगा। चित्त वृत्तियों का निरोध कैसे हो, आशा के रहते चित्त वृत्तियां हमेशा बाहर की ओर भागती रहेंगी, चंचलता बनी ही रहेगी। आशा के प्रति बोध से भरो, उसके परिणामों को देखो, अपने जीवन के अनुभवों से कुछ सीखो तो आशा क्षीण होगी और चित्त वृत्तियां अपने आप न्यूनतर होती जाएंगी। अपने भीतर जागोगे तभी साक्षी का उदय होगा। भीतर एक ठहराव आएगा। उस थिरता की स्थिति में गोविंद की अनुभूति होती है। कल पर कुछ भी नहीं टालना है लेकिन आशा सब कुछ कल पर टालती है, धर्म को भी कल पर टालती है। कुछ दान-पुण्य कर लो तो मरने पर स्वर्ग मिल जाएगा। तथाकथित आस्तिक, धार्मिक लोग भी भविष्योन्मुख होते हैं- प्रायः संसारियों और नास्तिकों से भी ज्यादा! जो वर्तमान से चूकता है वह गोविंद से बहुत दूर निकल जाता है। जिसे गोविंद को भजना है वह कल पर टालना छोड़े। कबीरदास जी कहते हैं-

काल करे सो आज कर आज करे सो अब,
पल में प्रलय होएगी बहुरि करोगे कब?

जागो। अभी जागो। यहीं जागो।

भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

चिंताओं का संसार

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

शंकराचार्य जी का सूत्र है-

का ते कांता धनगत चिन्ता वातुल किं तव नास्ति नियन्ता।

क्षणमपि सज्जन संगतिरेका भवति भव अवितरणे नौका॥१३॥

हे पागल, पत्नी और धन की चिंता में क्यों पड़ा है? क्या तुझे मालूम नहीं कि सज्जन का क्षण भर का संग इस संसार से पार जाने की एकमात्र नाव है? आशा रूपी वायु पीछा नहीं छोड़ती।

किसी शायर ने कहा है-

ऐसे चुप हैं कि ये मंजिल भी कड़ी हो जैसे

तेरा मिलना भी जुदाई की घड़ी हो जैसे।

मंजिलें दूर भी हैं, मंजिलें नजदीक भी हैं,

अपने ही पांव में जंजीर पड़ी हो जैसे।

अपने ही पांव में जंजीर पड़ी हो जैसे... किस चीज की जंजीर पड़ी है पांव में जिसके कारण हम मंजिल से सदा दूर हैं? आनंद की मंजिल से, परमात्मा की मंजिल से दूर रह जाने की वजह कौन सी रुकावट है? वह है हमारे मोह की रस्सी। मोह और कामना से हम बंधे हुए हैं जिसके कारण हम कहीं पहुंच नहीं पाते। प्रकृति ने हमें पंख दिए हुए हैं फिर भी हम शून्य के, निर्वाण के गगन में उड़ान नहीं भर पाते हैं।

बाल्मीकि और नारद जी की एक कहानी याद आती है। जंगल में नारद जी विचरण कर रहे हैं। रास्ते में उन्हें बाल्मीकि मिलते हैं। बाल्मीकि नारद जी को भी लूटना चाहते हैं। नारद जी ने कहा कि निश्चितरूप से तुम मुझे लूट लेना, मुझ पर हमला कर देना लेकिन इससे पहले तुम मेरे एक प्रश्न का जवाब दे दो- कि तुम क्यों ये सब कर रहे हो, किसलिए कर रहे हो? बाल्मीकि ने जवाब दिया कि ये मैं सब अपने परिवार वालों के लिए कर रहा हूं, घरवालों के लिए रोजी-रोटी कमा रहा हूं, ये मेरा कर्त्तव्य है। नारद ने कहा कि तुम एक काम करो, घर जाओ और अपने पत्नी-बच्चों व अन्य परिवारजनों से पूछना कि ये पाप जो तुम कर रहे हो, क्या वे लोग इसके फलों में भागीदार होना चाहेंगे? वे तो सब तुम्हें बहुत प्रेम करते

हैं, तुम भी उनको बहुत प्रेम करते हो लेकिन क्या वे तुम्हारा साथ देंगे, क्या वे तुम्हारे पापों के परिणाम में सहभागी होंगे? बाल्मीकि ने कहा कि ठीक है, मैं पूछकर आता हूं।

बाल्मीकि अपने घर जाते हैं और अपनी पत्नी से पूछते हैं कि जानता हूं तुम मुझे बहुत प्रेम करती हो और मैं भी तुम्हें बहुत प्रेम करता हूं, तुम्हारे लिए मैं क्या कुछ नहीं करता। इतना सारा धन इकट्ठा करता हूं लेकिन मुझसे किसी ने प्रश्न पूछा है उसका उत्तर मुझे दे दो, हालांकि मैं उत्तर तो जानता हूं लेकिन तुम्हारे मुख से सुनना चाहता हूं, इस सारी छीना-झपटी का जो पाप होगा, क्या उसकी सहभागी तुम बनना चाहोगी? तुम मेरी अर्धांगिनी हो तो क्या आधा पाप अपने सिर लोगी? पत्नी चुप रह गई। फिर दोबारा पूछे जाने पर बोली- नाथ, पत्नी का भरण-पोषण करना तो तुम्हारा कर्त्तव्य है, मैं तुम्हारे कर्मफल में कैसे भागीदार बन सकती हूं! बच्चों से पूछा तो बच्चों ने भी यही जवाब दिया कि हम तो आपके आश्रित हैं। हमें क्या पता कि आप किस विधि धनोपार्जन करते हैं। पुण्य से या पाप से? बच्चों को जन्म देकर उनका पालन-पोषण करना आपका फर्ज है। माता-पिता ने कहा- बुढ़ापे में लाचार-बीमार मां-बाप की सेवा हरेक बेटे को करनी चाहिए। तू कैसे करता है, यह तू जान। एक व्यक्ति भी परिवार में ऐसा नहीं मिला जिसने कहा हो कि हां, मैं तुम्हारे कर्मफलों का भागीदार बनने के लिए राजी हूं क्योंकि तुमने अपनी सारी जिंदगी का दांव हम लोगों के ऊपर लगाया हुआ है।

बाल्मीकि की आंखें खुल जाती हैं। फिर बाल्मीकि नारद से जाकर कहते हैं कि मुझे सत्य का दर्शन हो गया, कोई किसी का साथी नहीं है इसलिए अब मैं आपका शिष्य होना चाहता हूं और नारद जी के चरणों में गिर जाते हैं।

हम अपने जीवन को अगर गौर से देखें तो हमारा अधिकांश जीवन का हिस्सा दूसरों के लिए गुजरता है और जो बचता है वह सोने में, खाने में, पीने में, मनोरंजन में, प्रेम में, कलह में, मित्रता में, शत्रुता में बीत जाता है। हम पूरे जीवन का केन्द्र दूसरों को मानकर जीते हैं। और हम सोचते हैं कि दूसरों को सुख देने के लिए जी रहे हैं। पत्नी को सुख देना चाहते हैं, पत्नी के लिए धन इकट्ठा करना चाहते हैं। तो सारे जीवन का केन्द्र 'दूसरा' है लेकिन परिणाम कुछ भी हाथ नहीं आता। परिणाम केवल दुख ही दुख है। क्योंकि एक दुखी व्यक्ति दूसरे को सुख कैसे दे सकता है? भला एक परेशान व्यक्ति दूसरों की चिंता का हल कैसे कर सकता है? भगवान महावीर का कहना है कि जब हमारी दृष्टि दूसरों पर जाती है यही अधर्म है, जब हमारी दृष्टि स्वयं पर जाती है वहां से धर्म की शुरुआत होती है।

परमगुरु ओशो से एक बार मैंने प्रश्न पूछा था–

किसी को चैन से देखा न इस दुनिया में मैंने।

इसी हसरत में कर दी खत्म सारी जिंदगी मैंने।

ओशो ने मुझे उत्तर दिया कि जितनी ऊर्जा तुम दूसरों को देखने में लगा रही हो उतनी ही ऊर्जा अगर स्वयं को देखने में लगा दो तो तुम्हारे उत्तर का समाधान मिल जाएगा। क्योंकि जहां समस्या है वहां समाधान नहीं है, जहां समाधान है वहां समस्या नहीं है। जब हम खुद पर लौटें, अपना समाधान करें तभी दूसरों को समाधान दे सकते हैं, जब हम खुद आनंदित होते हैं तभी दूसरों को खुशी और आनंद दे सकते हैं। हम जो देना चाहते है वह तभी दे सकते हैं जब वह संपदा हमारे पास हो। दो भिखमंगे एक–दूसरे को भला क्या देंगे?

परकेन्द्रित होना जीवन की सबसे बड़ी भूल है। मोह का धागा हमें दूसरों में व्यस्त रखता है, इससे मुक्त होने का उपाय है सत्संग। सत्संग में बैठकर 'पर' से मुक्ति होती है, 'स्व' की ओर लौटना होता है। सत्संग क्या है– सज्जन का संग। और सज्जन कौन है? सज्जन वह है जिसके पास रहते हुए हमारी कामनाएं क्षीण होती हैं, जिसके पास रहकर हम महत्त्वाकांक्षा से मुक्ति की ओर खिसकते हैं। हमारा जीवन सदा महत्त्वाकांक्षाओं में, वासनाओं में गुजर रहा है। जिन चरणों में बैठकर हमारी तृष्णाएं शांत हों वहां जाकर जरूर बैठना। साधुसंग में खुले हृदय से बैठने से जीवन में फूल ही फूल खिलने लगते हैं। जिंदगी की बगिया लहलहा उठती है। बसंत की घड़ी आ जाती है।

फूल ही फूल खिल उठे मेरे पैमाने में,

आप क्या आए बहार आ गई मयखाने में।

निश्चित ही बहार आ जाती है जब जीवन में किसी साधु का, किसी संत का आगमन होता है। संत का अर्थ ही है कि जो संतुलन में जीता है, जो न बाहर जीता है, न भीतर जीता है। जिसके लिए बाहर और भीतर का भेद मिट गया है, जो संतुलित हो गया है, जो अपने लिए जीता है और जो सबके लिए जीता है। संत यानि जिसे अपने और पराए का भेद मिट गया है। जिसकी ज्योति जल गई उसके निकट जाकर बैठो, इतनी समतरंगता में बैठो कि हमारी जीवन ज्योति भी जल जाए। और तब उस प्रकाश में जीवन के सारे प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। अंधियारा मिट जाता है।

दसी सूत्र में आदि शंकराचार्य आगे कहते हैं–आशा रूपी वायु पीछा नहीं छोड़ती। आशा पीछा क्यों नहीं छोड़ती? आशा यानि भावी कल में जीने की वृत्ति। वर्तमान को चूकने की वृत्ति। इस तरह से जो भविष्य में, योजना में जी रहा है, वह आशा में, एक प्रकार के नशा में जी रहा है। महाभारत की एक बहुत प्यारी सी कथा याद आती है–

पांडव एक बार वन से गुजर रहे होते हैं और सब भाइयों को प्यास लगती है। उनमें से एक भाई जाता है झील के पास। जैसे ही झील में पानी भरने लगता है वहां पर यक्ष प्रकट हो जाता है और बोलता है कि रुको, तुम पानी नहीं भर सकते। पहले तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, अगर उत्तर नहीं दिया तो तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी।

वह प्रश्न पूछता है किंतु उसका उचित उत्तर नहीं मिलता। और एक पांडव मर जाता है। ऐसे ही दूसरे भाई से, ऐसे ही तीसरे भाई से के साथ होता है। अंत में युधिष्ठिर जाते हैं, यक्ष फिर प्रकट होता है और उनसे भी कहता है कि यदि तुमने मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया तभी तुम इस झील से पानी भर सकते हो और यदि प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया तो मैं तुम्हें जीने नहीं दूंगा, क्योंकि मैं बंधा हुआ हूं और मेरी मुक्ति तुम्हारे उत्तर से ही हो सकती है। युधिष्ठिर ने कहा प्रश्न पूछो, यक्ष का प्रश्न था– जीवन का सर्वाधिक आश्चर्यजनक सत्य क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, मनुष्य अनुभव से भी नहीं सीखता। सवाल के इस जवाब को सुनकर यक्ष प्रसन्न व संतुष्ट हुआ और उसने चार मृतक भाइयों को भी जीवित कर दिया।

भगवान बुद्ध कहते हैं: तृष्णा दुष्पूर है। क्योंकि आशा जीतती जाती है और अनुभव हारता जाता है। अनुभव पर हमेशा आशा की विजय होती है। अनुभव देखता है कि लोगों ने धन इकट्ठा किया लेकिन जिस पत्नी के लिए धन इकट्ठा किया वह तो खुश होती ही नहीं। जिन बच्चों के लिए सब कुछ किया, सारी जिंदगी दांव पर लगा दी वे बच्चे ही खफा हो जाते हैं। कौन किसका साथ देता है, सब एक दिन छोड़कर चले जाते हैं अथवा मौत सब छीन लेती है। दूसरों की जिंदगी का अनुभव सब कुछ दर्पण की तरह दिखाता है लेकिन अनुभव से भी हम सीख नहीं पाते क्योंकि आशा हावी रहती है। सदा लगता है कि दूसरे हारे, हम थोड़ी हारेंगे, दूसरे बीमार हुए, हम थोड़ी बीमार होंगे, दूसरों का धन व्यर्थ गया, हमारा धन व्यर्थ नहीं जाएगा। दूसरों के बच्चे खराब हैं हमारे बच्चे तो बहुत अच्छे हैं। दूसरों की पत्नी छोड़कर चली गई हमारी पत्नी तो हमें बहुत प्रेम करती है। ऐसे ही अनेक रूपों में आशा का इंद्रधनुष दूसरों का टूटता दिखता है और हम सोचते हैं

कि हमारा कभी नहीं टूटेगा। ऐसे ही जीवन चलता जाता है।

जीवन क्या है? क्षणों का जोड़ ही तो जीवन है, क्षण-क्षण से ही जीवन बनता है। हम प्रत्येक क्षण जैसे भी जी रहे हैं यही हमारा भविष्य बन रहा है। हम क्षण-क्षण दूसरों के लिए जी रहे हैं, स्वयं की शक्ति को लुटा रहे हैं, एक दिन खाली हाथ मरेंगे। अगर हम अपने लिए जीते हैं, अपनी ओर हमारी ऊर्जा लौटती है, जीवन की अर्थवत्ता खोजते हैं तो अपने जीवन का अर्थ तो मिल ही जाएगा, दूसरों को भी समाधान हम दे पाएंगे, दूसरों को भी आनंद बांट पाएंगे। जो भी अपने भीतर डूबे हैं वे खाली हाथ कभी नहीं लौटे। उन्होंने दोनों हाथों से उलीचा है, दोनों हाथों से खूब आंनद बांटे हैं, खूब प्रेम बांटा है, खूब समाधान दिया है दूसरों को।

बहुत लोग सोचते हैं कि स्वयं से कटकर, स्वयं के उद्‌गम से दूर निकलकर दूसरों के लिए जीना चाहिए, क्योंकि अपने लिए जीना तो स्वार्थ में जीना है। नहीं, अपने लिए जीना 'स्वार्थ' में जीना नहीं है, जब तक स्वयं के भीतर का सार 'स्व का अर्थ' समझ में न आ जाए तब तक हम दूसरों को कुछ भी नहीं दे सकते।

हम सोचते हैं कि आखिरी समय आएगा तो गोविंद का नाम लेते हुए मरेंगे, अंतकाल में नारायण-नारायण पुकारेंगे तो बात बन जाएगी। नहीं, ये एक बहुत बड़ी भूल है। जिंदगी को गोविंद की याद में, परमात्मा के भजन में जीना है। जब तक हमारे पास ऊर्जा का अतिरेक है उस ऊर्जा को प्रभु के सुमिरन में लगाना होगा। वृद्धावस्था जैसे ही शुरु होती है हजार बीमारियां घेर लेती हैं, इस रुग्ण शरीर को लेकर हम सोचते हैं अंतर्यात्रा में निकलेंगे। बाहरी यात्रा के लिए तक ऊर्जा की जरूरत पड़ती है तो अपने भीतर गोविंद को पाने के लिए तो बहुत ऊर्जा चाहिए। इस भ्रम से दूर हो जाएं कि बाद में बात बन जाएगी। जब तक जीवन में ऊर्जा का अतिरेक है तभी तक गोविंद का भजन हो सकता है और तभी हम मरते समय गोविंद को भजते हुए विदा होंगे, निर्भय अवस्था में विदा होंगे, प्रेम से विदा होंगे और संत कबीर की तरह गाते हुए विदा होंगे-

जिस मरनी से जग डरे मेरो मन आनंद
कब मरिहों कब भेटिहों पूरन परमानंद।

आइए सुनते हैं, परमगुरु ओशो इस सूत्र संदर्भ में क्या कहते हैं-

'हे पागल, पत्नी और धन की चिंता में क्यों पड़ा है? क्या तुझे मालूम नहीं कि

सज्जन का क्षणभर का संग इस संसार से पार जाने की एकमात्र नाव है?

कौन है सज्जन? वही, जिसके पास तुम्हारी नींद टूटे। जिसके पास तुम्हारी नींद और सघन हो जाए, वही दुर्जन है; जो तुम्हारे माया और मोह को बढ़ाने में सहायता दे, वही दुर्जन है।

लेकिन हालत उलटी है। जो तुम्हें जगाएगा, वह मित्र मालूम नहीं होता; जो तुम्हें सुलाता है, वही मित्र मालूम होता है। जो तुम्हें शराब पिलाता है, वह मित्र मालूम होता है; और जो तुम्हें होश में लाने की कोशिश करता है, वह शत्रु मालूम होता है। इसीलिए तो शराबखानों में भीड़ है, मंदिर खाली पड़े हैं। शराबखानों में क्यू लगा है, मंदिर के भगवान प्रतीक्षा करते हैं, कोई नहीं आता। पुजारी आता है, वह भी नौकर है; वह भी तनख्वाह पाता है, इसलिए पूजा कर जाता है। उसकी पूजा हार्दिक नहीं है; पेशेवर है। वह कोई प्रेमी नहीं है। क्या मामला है?

जहां-जहां नशा है, वहां-वहां तुम भीड़ देखोगे! सिनेमागृह के सामने भीड़ लगी है। तीन घंटे को नशा छा जाता है; खो जाते हो तस्वीरों में। भूल जाते हो अपना दुख-दर्द, अपनी पीड़ा; भूल जाते हो अपनी परेशानियां, चिंताएं; तीन घंटे के लिए अपने से छुटकारा हो जाता है। यह कोई छुटकारा कुछ काम आने वाला नहीं है। तीन घंटे बाद रोशनी होती है, पर्दा बंद होता है, तुम फिर अपनी जगह खड़े हो जाते हो—वही चिंता, वही दुख।

शराब भुला देती है दो-चार घंटों को, फिर होश आता है; फिर वही दुख, फिर वही पीड़ा। तुम अगर मंदिरों में भी जाते हो तो तुम्हारा इरादा शराब पाने का ही होता है।

यहीं फर्क है। भजन भी तुम दो तरह से कर सकते हो: एक तो शराब की तरह कि भजन में खो गए—चिंता मिटी, दुख-दर्द मिटा; उतनी देर तो याद न रही कि घर लौटना है, कि पत्नी-बच्चे हैं, कि पत्नी बीमार है, कि बच्चों को स्कूल में भर्ती कराना है, पैसे पास नहीं हैं—सब चिंता भूल गई; एक घंटे भर, दो घंटे भजन में डूब गए। अगर तुम भजन में भी डूब रहे हो, तो वह भी शराब है। भजन जगाए तो ही भजन है। तो मंदिर के नाम पर भी शराबखाने खुले हैं; और धर्म के नाम पर भी लोग बेहोशी खोजते हैं, होश नहीं खोजते।

ध्यान रखना, जहां होश मिलता हो, जहां तुम जगाए जाते होओ—और निश्चित ही जहां तुम जगाए जाओगे, वहां परेशानी होगी। क्योंकि नींद में बड़ी महिमा है, नींद में बड़े सुंदर सपने चल रहे हैं; जागना कठोर है। और जीवन के

सत्य के साथ परिचय बनाना चुनौती है। मुश्किलें खड़ी होंगी। संघर्ष करना होगा। साधना से गुजरना होगा। तपश्चर्या होगी। वास्तविकता के साथ तो सिर्फ आंख बंद करके काम नहीं हो सकता, आंख खोल कर ही यात्रा करनी होगी। और रास्ता कंटकाकीर्ण है। और रास्ता भटका सकता है। जो कभी चलते ही नहीं, उनके भटकने का डर भी नहीं। जो अपने बिस्तर पर ही पड़े रहते हैं, उनके जीवन में कोई दुर्घटना तो हो ही नहीं सकती। लेकिन जो रास्ते पर चलेगा—दुर्घटना भी है, भटकने का उपाय भी है। और कठिनाई भी है, यात्रा श्रमपूर्ण है; क्योंकि यात्रा चढ़ाई की है; पहाड़ के शिखर की तरफ जाना है।

परमात्मा की तरफ जाने का अर्थ है शिखर की तरफ जाना। प्रतिपल कठिनाई बढ़ती जाएगी। और जो उस कठिनाई से पार होने को राजी है, वही शिखर के आनंद को उपलब्ध होगा।

आनंद मुफ्त नहीं मिलता, अर्जित करना होगा, श्रम करना होगा। यद्यपि श्रम से ही नहीं मिलता है; श्रम करने के बाद मिलता है, लेकिन मिलता तो प्रसाद से है। पर जिसने श्रम किया, जिसने अपने को तैयार किया, उस पर ही परमात्मा बरस सकता है।

आशा रूपी वायु पीछा नहीं छोड़ती।

लेकिन मरते क्षण तक लोग व्यर्थ की चिंता में पड़े रहते हैं। सभी चिंताएं व्यर्थ की हैं। सार्थक का चिंतन होता है, चिंता नहीं होती।

मैंने सुना है, एक मारवाड़ी मर रहा था; मरणशय्या पर है। उसने अपनी पत्नी को पूछा कि बड़ा बेटा कहां है?

वह पास ही खड़ा है, पत्नी ने कहा, आप चिंता न करें।

अच्छा, और मंझला बेटा?

वह भी पास है, उसने कहा।

और छोटा बेटा?

वह पैर के पास खड़ा है, आप बिलकुल चिंता न करें, आप शांति से सोएं।

मारवाड़ी उठा, उसने कहा, शांति से सोऊं—क्या मतलब? फिर दुकान कौन चला रहा है? सभी यहीं मौजूद हैं!

बाप मर रहा है, यह सोच कर सब बेटे वहां आ गए थे, दुकान बंद कर आए थे। लेकिन मरते बाप को भी मौत का कोई सवाल नहीं है—दुकान कौन चला रहा

है? वह इसलिए भी नहीं पूछ रहा है कि कोई प्रेम है कि बड़ा बेटा कहां है, कि मंझला बेटा कहां है, कि छोटा बेटा कहां है। वह इसलिए पूछ रहा है कि दुकान का क्या हुआ! सभी यहीं मौजूद हैं? दुकान नहीं चल रही?

मौत के आखिरी क्षण तक भी तुम्हारे मन में दुकान ही चलती रहती है। चलेगी भी, क्योंकि जो जीवन भर चला है, वही मौत में भी चलेगा; तुम मौत में अचानक बदल न पाओगे अपने को।

तुम उन झूठी कथाओं में मत पड़ जाना, जिनमें कहा है कि कोई आदमी मरता था और उसके बेटे का नाम नारायण था, और उसने अपने बेटे को बुलाया कि नारायण, और ऊपर के नारायण धोखे में आ गए। इस धोखे में तुम मत पड़ना। ये कथाएं पंडितों ने गढ़ी हैं पापियों को सांत्वना देने के लिए। इन कथाओं के आधार पर पंडित थोड़ा-बहुत पैसा पापियों से छिटक लेते हैं। और कुछ होने का नहीं है।

ऊपर का नारायण धोखे में आ जाए, तो नारायण ही न रहा। और इस आदमी को स्वर्ग हो गया, क्योंकि मरते वक्त इसने नारायण को पुकारा। इतना सस्ता नारायण पाने योग्य भी न रह जाएगा। ऐसा मोक्ष दो कौड़ी का है, झूठ है। यह कहानी सच नहीं हो सकती।

जीवन भर का निचोड़ मौत में फलित होता है। तुमने जो जीवन भर गिना है, तुम मौत में वही गिनते हुए मरोगे। अगर तुम रुपये ही गिनते रहे हो, मरते वक्त भी संख्या चलती रहेगी; क्योंकि मौत तुम्हारे जीवन का सार-निचोड़ है। अगर जीवन भर अशांत रहे हो, अशांत मरोगे; अगर जीवन भर शांत रहे हो, तुम्हारी मौत महाशांति होगी।

हर व्यक्ति अलग ढंग की मौत मरता है, ध्यान रखना; क्योंकि हर व्यक्ति अलग ढंग का जीवन जीता है। न तो तुम्हारा जीवन एक सा है और न तुम्हारी मौत एक सी होगी।

जब बुद्ध मरते हैं तो उनकी मौत की महिमा और है। उनकी मौत की महिमा तुम्हारे तथाकथित जीवन से करोड़ गुना ज्यादा है। तुम्हारा जीवन भी उनकी मौत के मुकाबले नहीं है, उनकी मौत भी तुम्हारे जीवन से करोड़ गुना ज्यादा है। क्योंकि उस मौत के क्षण में सारा जीवन पास सिकुड़ आता है, सारे जीवन का संगीत सघनभूत हो जाता है—जैसे सारे जीवन के फूल निचोड़ लिए गए और इत्र बना लिया। मौत के क्षण में बुद्ध से जो सुगंध उठती है, वह जीवन भर के फूलों

का निचोड़ है; और तुमसे जो दुर्गंध उठेगी, वह भी तुम्हारे जीवन भर के कूड़े-कर्कट का निचोड़ होगा।

मौत में अचानक न बदल सकोगे। इसलिए तुम पंडितों की बातों में मत पड़ना, जो तुमसे कहते हैं, धर्म आखिर में कर लेना। धर्म अगर करना है तो अभी और यहीं, आखिर के लिए मत स्थगित करना। क्योंकि आज से ही सम्हालोगे तो सम्हाल पाओगे, आज से ही जागोगे तो जागते जागते जाग पाओगे; आज से ही गुनगुनाओगे गोविन्द का नाम तो शायद मरते क्षण भी तुम्हारे ओंठ पर गोविन्द का नाम हो। और तभी ऊपर का गोविन्द सुन सकेगा।

तुम यह मत सोचना कि उधार पंडित तुम्हारे कान में मंत्रोच्चार कर देगा, कि गंगाजल तुम्हारे मुंह में डाल देंगे, और गीता तुम्हें सुना देंगे मरते वक्त। वह पंडित दोहराता रहेगा गीता, तुम्हें भीतर बिलकुल सुनाई न पड़ेगी। जिसने जीवन भर श्रवण की कला सीखी, वही मरते क्षण में गीता को सुन सकता है; जिसने जीवन भर गोविन्द को भजा है, मरते क्षण किसी उधार नौकर-चाकर को, पेशेवर को बुला कर गोविन्द का भजन न करवाना पड़ेगा; तुम्हारे भीतर के प्राण, तुम्हारी श्वास-श्वास, तुम्हारे हृदय की धड़कन-धड़कन गोविन्द को भजेगी।

मौत के उस क्षण में तुम महाधन्यभाग से भरे, नाचते हुए परमात्मा की तरफ जाओगे। तुम्हारी मौत महाजीवन का द्वार बन जाएगी; तुम मौत को बदल डालोगे। अभी मौत तुम्हें मारती है, तब तुम मौत को मार डालोगे। और धर्म मौत को मारने की कला है; वह अमृत होने का विज्ञान है।

इसलिए हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।'

भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

आंख वालों का अंधापन

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज का सूत्र है-

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः काषायाम्बर बहुकृतवेषः।

पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ोहि उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः॥१४॥

जिसके माथे पर जटा है, जो सिर मुड़ाए है, जिसने अपने बाल नोच डाले हैं, जो काषाय पहने है, अथवा तरह-तरह के वेश धारण किए हैं, वह मूढ़ आंख रहते भी अंधा है। केवल पेट भरने के लिए उसने बहुत रूप बना रखे हैं।

माथे पर जटा रखना, सिर मुड़ाना, वेश धाारण करना आदि बाह्य कर्म हैं। जब तक जीवन है हम कर्म से बंधे हुए हैं, हम कर्म से मुक्त नहीं हो सकते। चाहे हम संसार में रहें, चाहे हम संन्यासी हो जाएं। जब हम संसार में हैं तो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करना होगा और अगर हम संन्यासी भी हो जाएं तो भी कर्म से नहीं छूट सकते, हमें कर्म करना ही होगा। प्रकार बदल जाते हैं कर्म के, संसार में कई तरह के कर्म होते हैं- कोई क्लर्क है, कोई इंजीनियर है, कोई डॉक्टर है, कोई व्यवसाय कर रहा है और जब हम संन्यास ले लेते हैं तो कर्म के प्रकार बदल गए लेकिन कर्म जारी रहता है। हमने संसार से मुक्ति के लिए जो वेश धारण किया था वह वेश बंधनकारी सिद्ध हो जाता है कालांतर में। क्यों?

साधु-वेश इसलिए बंधन सिद्ध हो जाता है क्योंकि संसारी के पास इतनी स्वतंत्रता तो है, कि वह अपने काम को छोड़ सकता है, बदल सकता है; लेकिन संन्यासी के पास अब उतनी स्वतंत्रता भी नहीं है। उसे अब ये रूप बनाकर रखना ही पड़ेगा क्योंकि इन माला-तिलक-वस्त्रों से ही उसे सम्मान मिलता है, इनके कारण ही उसकी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। भोजन, कपड़ा, मठ में निवास स्थान और सम्मान भी समाज इसी के कारण दे रहा है। अब अगर वह समझ भी जाता है कि आडम्बर से धर्म का कोई संबंध नहीं है तो भी इस घेरे से वह बाहर नहीं निकल पाता। अधिकांश मूढ़जन तो समझ ही नहीं पाते लेकिन जो समझ भी जाते हैं वे भी इस घेरे से बाहर नहीं निकल पाते। क्यों? क्योंकि समाज उन्हें बिल्कुल स्वीकार नहीं कर सकता, सारा सम्मान छीन लेगा और सारी आर्थिक व्यवस्था और सुरक्षा खत्म कर देगा। अब इतनी हिम्मत कौन जुटाए? कैसे साहस करें?

कितने ही तथाकथित संन्यासी परमगुरु ओशो के पास आकर अपनी व्यथा सुनाते कि हमें इस आडम्बर से कुछ नहीं मिला, लेकिन अब घेरे से बाहर आने में अक्षम हैं। इस जंजाल को त्याग दें तो उदर भरण कैसे होगा? इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि ये सब उदर भरण के साधन हैं। कुछ ऐसे लोग हैं जो संसार की प्रतियोगिताओं में असफल हो गए हैं, आलसी हैं, सुस्त हैं, बुद्धिहीन हैं; उन्होंने संन्यास ले लिया है कि इससे अच्छी आजीविका चलेगी। वे पाखंडी लोग जानबूझकर समाज को धोका दे रहे हैं। जनता का शोषण कर रहे हैं।

इसी शोषण पर शंकराचार्य प्रहार कर रहे हैं कि वह दूसरों को प्रवंचना दे रहा है। संभवतः खुद तो धोखे में पड़ा ही है और दूसरे को भी भ्रमित कर रहा है। दूसरे लोग सोचते हैं कि ये ज्ञानी, ये त्यागी है इसे ही परमात्मा मिलेगा। हम तुच्छ लोगों को परमात्मा नहीं मिलेगा क्योंकि हम लोग तो भोग में लिप्त रहते हैं, संसार के सब कर्मों में लिप्त हैं, हमें कैसे परमात्मा मिल सकता है? यह संन्यासी लोगों को भ्रमित कर रहा है कि तुम तुच्छ प्राणी हो, तुम्हें परमात्मा को पाने का अधिकार नहीं है और हम उत्कृष्ट हैं और हम ही परमात्मा को पाएंगे। इसलिए संन्यासी दो तरह के गलत कार्य करता है, एक तो पवित्र वेश का दुरुपयोग करके दुकानदारी। और दूसरों को अध्यात्म में भ्रमित करने का अपराध, सबको निकृष्ट साबित करने का प्रयास। जिसके लिए कबीर साहब कहते हैं–

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा।

आसन मार मंदिर में बैठे, ब्रह्म छोड़ि पूजन लगे पथरा।

मथवा मुड़ाए जोगी कपड़ा रंगाले, गीता बांच के होइगै लवरा।

कहे कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवाजा बांधन जइबे पकड़ा।

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा।

कबीर साहब कहते हैं कि हे जोगी, तुमने मन को नहीं रंगाया, शरीर के वस्त्र रंग लिए। शरीर तो काषाय वस्त्र पहना है, तरह–तरह के वेश धारण किया है। किसी ने काषाय, किसी ने सफेद, किसी ने काले, तो किसी ने हरे वस्त्र पहन लिए। तरह–तरह के संन्यासी हैं। इन संन्यासियों ने कपड़ों को तो रंगा लिया लेकिन मन को नहीं रंगाया, मन तो अभी भी संसार में लिप्त है, पदार्थ में रंगा हुआ है, परमात्मा में नहीं। शरीर आसन में बैठा हुआ है, बाहर से बहुत शांत दिखाई दे रहा है लेकिन भीतर मन उतना ही चंचल है। यद्यपि वह मंदिर में बैठा है लेकिन

यह मन कहां-कहां घूम रहा है, सारी दुनिया के फेरे लगा रहा है। रॉकेट से भी ज्यादा स्पीड इस मन की है, जाने कहां-कहां चला जाता है और बेचारा शरीर आसन मारकर बैठा है। देह को मूर्ति जैसा बिठाने से क्या होगा? ये व्यक्ति आत्मप्रवंचना में है, खुद को धोखा दे रहा है। किसी ने मुंडन करा लिया है, किसी ने जटा बढ़ा ली है। नजर संसारी की भी बालों पर है और संन्यासी की भी बालों पर ही है। संन्यासी जटा बढ़ा रहा है और संसारी बालों की अलग-अलग हेयर-स्टाइल दिखा रहा है। फर्क क्या है? कोई फर्क नहीं है।

त्यागी और भोगी में अंतर नहीं है, दोनों एक ही चीज की कामना कर रहे हैं। जो भोग कर रहा है वह कामना कर रहा है कि अभी सुख मिले, सुख की कामना से भोग कर रहा है और जो त्याग कर रहा है वह भी कामना से ग्रसित है कि भविष्य में स्वर्ग मिलेगा, भविष्य के सुख के लिए वह कामना कर रहा है। जटा बढ़ा लिया, माथा मुड़ा लिया और गीता पढ़ ली, रट ली; जो कि उधार ज्ञान है। वह तुम्हारा कैसे हो सकता है? तुम्हारे अपने जीवन के शास्त्र से निकला हुआ ज्ञान नहीं है, अनुभवगत ज्ञान नहीं है। लेकिन इकट्ठा कर लिया, शास्त्रों को कंठस्थ कर लिया; अब हो गए बकवासी, अब हो गए तर्कशास्त्री, अब हो गए उपदेश देने वाले। दूसरों को उपदेश देकर भ्रमित करते हुए खुद भी भ्रमित हो रहे हैं।

कबीर साहब कहते हैं- जम दरवाजा बांधन जइबे पकड़ा। जब मौत आएगी तब समझ में आएगा, ज्ञान तो वही है जो मृत्यु के साथ जाए, ज्ञान तो वही है जो मृत्यु के समय हमें निर्भय अवस्था में ले जाए, जो मृत्यु से मैत्री करा दे वही ज्ञान है। लेकिन उधार ज्ञान वालों के सामने मौत की थोड़ी सी भी झलक आती है तो वे कंप जाते हैं, अच्छे-अच्छे उपदेशक कांप जाते हैं मृत्यु से। मृत्यु के आगे चाहे तथाकथित ज्ञानी हों, चाहे अज्ञानी हों; सब बराबर हैं। मृत्यु दोनों को एक कर देती है। स्मरण रखना, सारी तपस्याएं भौतिक देह पर केन्द्रित हैं। पदार्थवादी, भोगवादी और तथाकथित त्यागवादी दोनों देह केन्द्रित हैं। और धर्म है देह के पार, मन के पार, आत्मा में स्थित होना धर्म है। उपनिषद कहते हैं जो हृदय में भगवान को धारण करे, जो हृदय में परमात्मा को धारण करे वह धर्म है। धर्म है अपने आत्मस्वरूप की पहचान। मगर अध्यात्म के नाम पर जो चल रहा है वह एकदम भौतिक शरीर की कवायदें हैं, कष्ट हैं।

संत मलूक दास जी कहते हैं-

वेश फकीरी जो करे मन नहीं आवे हाथ,
दिल फकीरी जो करे साहिब तिनके साथ।

बहुतेरे केवल वेश से फकीर हो गए हैं, मगर असली फकीर वह है, प्रभु जिसके संग है। यानि, मैं नहीं हूं, मैं ना कुछ हूं; ऐसा जानने वाला अहम् से मुक्त हुआ और ब्रह्म से युक्त हुआ। लेकिन जो वेश से फकीर हो गया है जरूरी नहीं है कि उसके भीतर ऐसी विनम्रता आ जाए। जो तप कर रहा है, तरह-तरह के कर्मकाण्ड कर रहा है उसका तो अहंकार और ज्यादा प्रबल हो गया है। शायद ऐसा तपस्वी और सुंदर सोने की जंजीरों में गिरफ्त हो गया हो, लेकिन परमात्मा उसे नहीं मिलता। गृहस्थ लोहे की जंजीरों में बंधा है। परमात्मा से अगर मिलना है तो अपने हृदय का आसन खाली करना पड़ेगा जिसमें अहंकार बैठा हुआ है। यदि मन तुम्हारा गुलाम नहीं है, तुम मन के गुलाम हो तो ऐसे में परमात्मा नहीं मिलेगा। तन से हो गए हो फकीर और हो मन के गुलाम, इससे परमात्मा नहीं मिलेगा। जो दिल से फकीर हो, विनम्र हो, जो अहंकार विहीन हो, उसे मालिक, परमात्मा मिलता है।

जीसस ने कहा है- धन्य हैं वे लोग जो दरिद्र हैं, क्योंकि परमात्मा का राज्य उन्हीं का है।

कबीर साहब कहते हैं-

मन लागो मेरो यार फकीरी में।

जो सुख पायो राम भजन में, सो सुख नाहि अमीरी में,

भला-बुरा सबका सुनि लीजै, कर गुजरान गरीबी में,

मन लागो मेरो यार फकीरी में।

गरीबी का अर्थ समझ लें, अगर हमारे पास कुछ नहीं है तो इससे हम गरीब या दरिद्र नहीं होते, क्योंकि जब सब कुछ है तब भी हम दरिद्र हो सकते हैं, गरीब हो सकते हैं। भीतर का खालीपन निर्णय करता है कि हम गरीब हैं या दरिद्र हैं या अमीर हैं। कबीर जब दरिद्र कह रहे हैं तो इसका मतलब विनम्रता से है, अहंकार विहीन। यह अहंकार विहीनता जप-तप से नहीं आती। त्याग-कर्मकांड से कोई बंधन नहीं कटते।

शंकराचार्य कहते हैं कि जिसने तरह-तरह के वेश बनाए हैं वह मनुष्य आंख रहते हुए भी अंधा है। यद्यपि उसके पास आंख है और देख भी सकता है लेकिन वह तब भी अंधा है। असली आंख तो विवेक है, असली आंख तो आंतरिक जागरण है, बाहरी आचरण नहीं। आंतरिक जागरण ही असली आंख

है। महावीर कहते हैं कि विवेक तो वही है जिससे वैराग्य पैदा हो जाए। वह वैराग्य दुकानदारी नहीं है, वह वैराग्य ऐसे है जैसे किसी पेड़ में फल पक जाए और वह पेड़ से गिर जाए।

धर्म भीतरी आंख का खुलना है। जीसस कहते हैं जिनके पास आंख हों वे देखें, जिनके पास कान हों वे सुन लें। क्या वे अंधों और बहरों से बात कर रहे थे? नहीं, हमारे पास आंख होते हुए भी आंख नहीं है क्योंकि हमने धारणाओं और विश्वासों की पट्टी बांध रखी है इसलिए हमारे पास कान रहते हुए भी कान नहीं हैं क्योंकि हम सुनते ही नहीं। हम तो वही सुनते हैं जो हम सुनना चाहते हैं। न तो हमारे पास कान हैं और न ही हमारे पास आंख हैं। आंख कब आएगी? जब हमारे भीतर विवेक पैदा होगा। कान कब होंगे? जब हममें श्रवण की कला आ जाएगी। जब हम सुनने के काबिल हो जाएंगे। जो उपदेश संत कह रहे हैं उसे अपने पूर्वाग्रहों की पट्टी से न देखें, अपने मान्यताओं भरे कानों से न सुनें तो वह कान और आंख ही वास्तविक आंख-कान हैं।

अंत में शंकराचार्य की यह बात फिर से याद दिला देना चाहूंगी कि बाह्य आडंबर मात्र जो हैं वे धर्म से कोई संबंध नहीं रखते। बाह्य आडंबर से लोगों ने दुकानदारी चला रखी है, खुद को और दूसरों को भी धोखा दे रहे हैं। तप से बंधन नहीं कटते, तप से बंधन निर्मित हो जाते हैं जिनका कि जीवन में पता ही नहीं चलता। और यदि इन बंधनों को कोई काट सकता है तो वह है गोविंद का भजन।

इस बारे में परमगुरु ओशो क्या कहते हैं, आइए सुनते हैं-

'शंकर के ये सूत्र त्याग और वैराग्य के सूक्ष्मतम इशारे हैं- जिसके माथे पर जटा है, जो सिर मुड़ाए है, जिसने अपने बाल नोच डाले हैं, जो काषाय पहने है, अथवा तरहत्तरह के वेश धारण किए हैं, वह मूढ़ आंख रहते भी अंधा है। केवल पेट भरने के लिए उसने बहुत रूप बना रखे हैं।

ध्यान रखना, आदमी का मन बड़ा खतरनाक है, वह संन्यास में भी संसार खोज लेता है। वह मंदिर में भी पाखंड खोज लेता है। वह साधना में भी भोग खोज लेता है। आवरण कुछ भी हो, भीतर मन अपनी पुरानी आदतों का जाल बुनता चला जाता है।

तो शंकर कहते हैं, जिसके माथे पर जटा है, उससे धोखा मत खा जाना। जटा होने से ही कुछ भी नहीं होता। जिसने सिर मुड़ा लिया है, धोखा मत खा जाना;

और दूसरे धोखा खा जाएं तो खा जाएं, तुम खुद धोखा मत खा जाना—सिर मुड़ा कर या बाल बढ़ा कर या बाल नोच डाले हैं... जैन दिगंबर मुनि केश-लुंच कर लेते हैं, बालों को नोच डालते हैं—धोखा मत खा जाना। जो काषाय पहने है, जिसने गैरिक वस्त्र पहन लिया है, इससे धोखा मत खा जाना। और दूसरा खा भी जाए तो उसकी चिंता मत करना, खुद मत खा जाना। क्योंकि काषाय पहन लेना भी सरल है, बाल नोच लेने भी सरल हैं। थोड़े से अभ्यास की बात है। सिर मुड़ा लेने में क्या कठिनाई है? जटा-जूट बढ़ा लेने में क्या अड़चन है? थोड़े से अभ्यास की बात है। लेकिन भीतर ध्यान रखना कि यह सब किसलिए किया है? कहीं इसके भीतर भी तो संसार ही तो नहीं चल रहा? इसके भीतर भी कहीं व्यवसाय तो नहीं चल रहा? केवल पेट भरने के लिए तो ये सारे रूप नहीं बना रखे हैं?

सौ में निन्यानबे संन्यासी पेट को ही भर रहे हैं। और पेट ही भरना था तो संसार बेहतर था, कम से कम ईमानदारी तो थी; दुकान बेहतर थी, क्योंकि कम से कम साफ-सुथरा तो था। दुकान ही चलानी थी तो दुकान ही उचित थी, कम से कम मंदिर को भ्रष्ट न करते; साधारण वेश ही ठीक था, फिर गैरिक वस्त्रों को विकृत करने की कोई जरूरत न थी। नाई से ही बाल कटवा लिए होते, लोंचने का आग्रह न करते, वही उचित था। क्योंकि अंतत: मन व्यापार कर रहा हो, तो बाहर के धोखे से कुछ भी नहीं होता। अंतिम निर्णायक तो भीतर का मन है कि तुम यह किसलिए कर रहे हो।

क्यों शंकर कहते हैं, वह मूढ़ आंख रहते भी अंधा है?

क्योंकि वह किसको धोखा दे रहा है! यह सवाल दूसरों को धोखा देने का नहीं है, दूसरों का कोई प्रयोजन ही नहीं है; वह अपने को ही धोखा दे रहा है। क्योंकि अंतिम निर्णय में, तुम जो भीतर थे, उसी से निश्चित होता है; तुम जो बाहर थे, उससे कुछ निश्चित नहीं होता। जीवन, तुम जो भीतर हो, उससे निर्धारित होता है; तुम जो बाहर हो, उससे निर्धारित नहीं होता। वह जो तुम्हारे भीतर चल रहा है सतत, वहां तुम रुपये गिन रहे हो; ऊपर तुम राम-राम जप रहे हो। वह राम-राम व्यर्थ है। वह जो तुमने रुपये गिने हैं, वही सार्थक है। उससे ही निर्णय होगा। क्योंकि निर्णय कोई और करने वाला नहीं है, कोई दूसरा निर्णय करने वाला नहीं है। तुम जो भीतर कर रहे हो, उसी से प्रतिपल निर्णय हुआ जा रहा है। कोई निर्णायक भी होता तो समझा-बुझा लेते, हाथ जोड़ लेते, पैर जोड़ लेते, क्षमा मांग लेते। कोई निर्णायक भी नहीं है। कहीं कोई परमात्मा बैठा नहीं है, जिसको तुम समझा-बुझा लोगे। तुमने जो किया, तुम्हारा कृत्य ही तुम्हारी नियति है। तुम्हारे

कृत्य में ही फल छिपा है। तुम्हारे सोचने में ही तुम्हारे होने का सारा आधार है।

प्रत्येक कृत्य निर्णायक है। और कृत्य का निर्णय तुम्हारे अंतस में है, तुम्हारे बाहर नहीं। तुम बाहर से मौन खड़े हो सकते हो और भीतर तूफान उठा हो सकता है। तुम बाहर शांत दिखाई पड़ सकते हो और भीतर अशांति का दावानल हो। तुम बाहर चुप और भीतर ज्वालामुखी तैयार हो रहा हो विस्फोट पाने को। तुम्हारा बाहर मूल्यवान नहीं है, तुम्हारा भीतर ही तुम्हारा अस्तित्व है। और तुम्हारा प्रत्येक कृत्य निर्णय करता है, तुम्हारी आत्मा के स्वरूप की। तुम्हारा प्रत्येक कृत्य तुम्हें निर्मित करता है। कोई निर्णायक नहीं है, तुम्हीं हो।

इसलिए शंकर कहते हैं: वह मूढ़ आंख रहते भी अंधा है। जो सोचता है, मैं दूसरों को धोखा दे रहा हूं। धोखा, सब धोखा, अपने को ही दिया गया धोखा है। सब प्रवंचना अपने को ही दी गई प्रवंचना है। गंवाओगे तुम अपना ही, किसी और का तुम कुछ गंवा नहीं सकते हो। शायद दूसरे की जेब से थोड़े पैसे खींच लो। लेकिन उन्हीं पैसों में तुम्हारी जेब से पूरी आत्मा बिखर जाएगी। तुम खोओगे बहुत, पाओगे कुछ भी नहीं। दूसरे को धोखा भी दोगे तो क्या धोखा दोगे? चार पैसे उससे छीन लोगे। वे पैसे तो पड़े ही रह जाने वाले हैं। न जिससे तुमने छीने हैं, वह ले जाने वाला था; न तुम ले जाओगे। वे पैसे किसकी जेब में रहे, बहुत फर्क नहीं पड़ता। लेकिन तुमने छीना, तुमने आकांक्षा की, तुम विकृत हुए, तुमने अपने मन को धूमिल किया, तुमने भीतर पाप को जगह दी, तुमने पाप का बीज बोया। फिर तुम आशा मत करना कि उस पाप के बीज से कोई स्वादिष्ट फल लगने वाले हैं, या कोई सुगंधित फूल लगेंगे।

वह मूढ़ आंख रहते भी अंधा है। केवल पेट भरने के लिए उसने बहुत रूप बना रखे हैं। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो।'

भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।

आशा का संसार

मेरे प्रिय आत्मन्

नमस्कार।

आज का सूत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है-

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चति आशापिण्डम्॥१५॥

अंग गल गए हैं, बाल सफेद हो गए हैं, मुंह में एक दांत नहीं; ऐसा वह वृद्ध छड़ी पकड़ कर चलता है। फिर भी वह आशा के पिंड से बंधा हुआ है।

विन्सेन्ट वॉनगाग पर एक बहुत ही प्यारी किताब है, लस्ट फार द लाइफ, जीने की उत्कट आकांक्षा, जीवेष्णा। मनुष्य अंत-अंत समय तक जीना चाहता है, किसी भी शर्त पर वह जीना चाहता है, अगर उसे जीने के लिए किसी के जीवन को कुर्बान भी करना पड़े उसके बावजूद भी वह अपना ही जीवन चुनता है। अगर सामने प्रश्न आ जाए कि सारी दुनिया विनष्ट हो रही है और मैं जीवित रहूं तब मनुष्य अपना जीवित होना चुन लेगा, ऐसी विक्षिप्त है जिजीवषा। और महावीर के ऊपर अगर कोई किताब लिखी जाए तो वह किताब लिखनी होगी नो लस्ट फार द लाइफ, जीने की जीवेष्णा नहीं। जीवेष्णा क्यों है? महावीर कहते हैं कि आखिर मनुष्य जीना क्यों चाहता है, बिना जाने-समझे कि ये जीवन की आकांक्षा क्यों है। बहुत से प्रश्न मनीषियों ने पूछे हैं कि ये जगत किसने बनाया, सृष्टि की रचना किसने की, सृष्टा कौन है, जगत की उत्पत्ति कैसे हुई, आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है? लेकिन परमगुरु ओशो कहते हैं कि यह प्रश्न सबसे गूढ़ प्रश्न है कि जीने की आकांक्षा क्यों है, हम क्यों जिए जा रहे हैं? इसी बात पर ही महावीर का पूरा दर्शन टिका हुआ है, उनकी संपूर्ण साधना पद्धति आधारित है।

जब हमारे भीतर जीने की पागल आकांक्षा होती है तभी हिंसा पैदा होती है और महावीर का पूरा धर्म अहिंसा पर आधारित है। ये जीवन कुछ ऐसा है जैसे आपने चूहे और बिल्ली को देखा होगा, बिल्ली चूहे के पीछे भागती है उसको पकड़ने के लिए और खेल-खेलकर पकड़ती है, ऐसा नहीं है कि अचानक एक बार में ही पकड़ ले, कुछ सताएगी फिर छोड़ देगी। बेचारा चूहा भागेगा, थोड़ी दूर जाने के बाद बिल्ली फिर पकड़ लेती है। चूहे को लगेगा कि वह बिल्ली से दूर भागता जा रहा है और बिल्ली जानती है कि मैं तो एक न एक समय पकड़ ही लूंगी। ऐसे ही ये जीवन और मौत का खेल है, मौत बार-बार हमें दस्तक देती है, पकड़ने की कोशिश करती है, याद दिलाती है और जीवन बचता चला जाता है लेकिन ये

बचता हुआ जीवन सोचता है कि हमें तो कभी मौत पकड़ने वाली नहीं! हम तो अपवाद हैं- हर बार बच जाने वालों में से एक हैं! लेकिन अंततः मौत ही जीतती है। ऐसा इस जीवन का विचित्र खेल है।

ययाति की कहानी बड़ी प्यारी है। ययाति नामक बहुत महान राजा हुआ, उसका विराट साम्राज्य था, दर्जनों रानियां थीं, सैकड़ों पुत्र थे। अति-भोग में जीता था। जब वह सौ वर्ष का हो गया, तब एक दिन अचानक मौत ने उसके द्वार पर दस्तक दी। मृत्यु को देखकर ययाति घबरा गया, कहता है अरे, बड़ी जल्दी मौत आ गई, अभी तो मैं जिया ही नहीं हूं, अभी तो मैंने जो सुख अपनी कल्पना में देखे थे वे तो भोगे ही नहीं हैं।

मौत ने पूछा कि सौ साल में तुम्हें कोई अनुभव नहीं हुआ?

ययाति ने कहा अनुभव तो बहुत हुए और हर सुख के अनुभव ने यह बताया कि अभी सुख नहीं मिला, अभी कुछ और आगे सुख बाकी हैं। मुझे बहुत सारे ऐसे अनुभव अभी जीने हैं जिनको जीकर मुझे सुख मिल सकता है। मेरे भीतर बहुत आशाएं हैं मुझे और जीवन दे दो, मैं और जीना चाहता हूं। वह सम्राट भिखारी की तरह गिड़गिड़ाने लगा मृत्यु के सम्मुख। मृत्यु ने कहा कि मैं तो आ गई हूं, अब तो मुझे ले ही जाना होगा। हां, लेकिन एक उपाय हो सकता है वह उपाय यह है कि अगर तुम्हारे बदले कोई तुम्हारा पुत्र कहे कि हां, मैं पापा के बदले चलता हूं तो मैं तुम्हें छोड़ सकता हूं। ययाति ने अपने पुत्रों से पूछा। जो सबसे बड़ा था वह अस्सी साल का था। उसने कहा कि अभी मेरी उम्र ही क्या है और आप तो सौ साल के हो गए हैं, मैं भला अल्पायु में कैसे मर सकता हूं? दूसरा पुत्र सत्तर साल का था उसने भी मना कर दिया- 'पिताजी, यद्यपि आपसे प्यार बहुत करता हूं लेकिन अभी तो मैं सत्तर साल का ही हुआ हूं। जब आप तृप्त नहीं हुए, बड़े भाई साहब संतुष्ट नहीं हुए जीवन से तो मैं कैसे मर सकता हूं? मैं भी लंबा जीना चाहता हूं।' इस प्रकार सभी क्रमशः इंकार करते चले गए। एक लड़का बीस साल का था उसने कहा कि मैं तो अभी जवान ही हुआ हूं, अभी तो कुछ भोग ही शुरु नहीं किया मैं कैसे मर सकता हूं? सुंदर-सुंदर सपनों को छोड़कर मैं मौत के मुंह में कैसे जा सकता हूं पूज्य पिताजी?

फिर अंतिम लड़का बारह साल का था उसने बोला कि पिताजी मैं जाने के लिए तैयार हूं। फिर राजा बोला कि तुम क्या बात कर रहे हो, तुम मात्र बारह साल के हो और मरने के लिए तैयार हो। पुत्र बोला कि इतने सारे भाइयों को देखकर,

आपको देखकर मुझे लगा कि जब आप सौ साल में कुछ नहीं सीखे, अतृप्त हैं, वह अनुभव नहीं कर पाए जो करना चाहते थे; तो मैं बारह साल में यह देखकर समझ गया हूं कि मुझे उस दिशा में जाना ही नहीं है जहां कभी तृप्ति ही नहीं मिलती। और मैं आज ही मौत के साथ जाना चाहता हूं। वह मौत के साथ चल दिया और ययाति को सौ वर्ष जीने का अवसर मिल गया।

ठीक सौ वर्ष के बाद फिर से मौत आती है, दस्तक देती है, कहानी फिर रिपीट होती है फिर ययाति कहता है कि 'जीवन खत्म हुआ तो जीने का ढंग आया, जब बुझ गई समां तो महफिल में रंग आया'। अभी तो महफिल रंगी हुई थी, अभी तो रंग आया था और इतनी सारी मेरी योजनाएं थीं जिनसे मैं तरह-तरह के भोग, तरह-तरह के सुख प्राप्त कर सकता था और आप फिर लेने आ गईं, मुझे अभी नहीं जाना है। मृत्यु के सामने वह फिर बच्चे जैसा गिड़गिड़ाता है। मृत्यु पूछती है कि तुमने अभी तक कुछ अनुभव नहीं किया, जो सुख मिले थे क्या उनसे तुम अभी तृप्त नहीं हुए? ययाति ने कहा अनुभव तो हुआ, लेकिन तृप्ति नहीं हुई और ऐसा लग रहा है कि तृप्ति अभी और आगे है। और हो सकता है कि जो सुख नहीं मिला है उसमें तृप्ति हो, अभी मेरे भीतर वह आशा बुझी ही नहीं है, मेरी आशा अभी भी जवान है मुझे फिर एक बार मौका दीजिए जीने का। मृत्यु को कहना पड़ा कि पुन: वही घटना रिपीट होगी, फिर तुम्हारे किसी बेटे को मरने हेतु तैयार करो।

इस तरह वह घटना दस बार रिपीट होती है। हजार साल का जब ययाति हो जाता है तब दसवीं बार मौत आती है और ययाति कहता है कि अभी तो मैं वहीं का वहीं खड़ा हूं, कोई भी बदलाव नहीं हुआ, रत्ती भर भी परिवर्तन नहीं हुआ मेरी समझ में। और याद रखना, ऐसे अनंत काल तक ययाति को अगर मौत न आए तो भी ययाति किसी वैराग्य में नहीं जाएगा, यहीं भोगों में उलझा रहेगा और तृप्ति की तलाश बाहर करता रहेगा और कभी तृप्त नहीं होगा। क्योंकि किसी भी भोग से, किसी भी तृष्णा से, किसी भी जीवन में कोई बाहर कभी भी तृप्त नहीं होता।

भोगो न भुक्ता वयमेव भुक्ता, तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णा,

तपो: न तप्ता, वयमेव तप्ता, कालो न यातो वयमेव यातो।

भोगी खत्म हो जाता है लेकिन भोग कभी खत्म नहीं होता, भोग अनंत हैं, कितना भोगोगे। तृष्णा कभी खत्म नहीं होती, तृष्णा दुष्पूर है, ये शरीर बूढ़ा हो जाता है लेकिन तृष्णा सदा जवान रहती है। तप करते-करते जो तपस्वी है वह विदा हो जाएगा लेकिन तप कभी समाप्त नहीं होते। कालो न यातो वयमेव यातो, समय

हमेशा चलता रहता है लेकिन जीवन खत्म हो जाता है। मौत घट जाती है लेकिन समय चलता जाता है। ऐसी है ये हमारे जीवन की कहानी।

माया मरी न मन मरा, मर-मर गए शरीर,

आशा तृष्णा न मरी कह गए दास कबीर।

संत कबीर दास जी कहते हैं कि आशा और तृष्णा कभी नहीं मरती लेकिन शरीर मर जाता है। वासना जीवित रहती है और वही वासना हमें बार-बार जीवन देती है, बार-बार हमें देह धारण कराती है। जाने कितनी बार हम जन्म लेते हैं और कितनी बार हम मरते हैं और हर बार भूल जाते हैं। बारम्बार मौत आती है, हर बार फिर जीवन मिलता है और प्रत्येक जीवन में तृष्णाओं में हम फंसते चले जाते हैं। आशाओं के फंदों में हम उलझते चले जाते हैं और जिंदगी यूं ही खत्म हो जाती है।

मैंने बड़ी प्यारी कथा सुनी है कि एक युवक है जो रोज संध्या घूमने जाता है जंगल में। उसे घूमना बहुत पसंद है। एक बार चलते-चलते रात हो जाती है, अचानक शेर दहाड़ने की आवाज आती है। इस युवक का पैर डर के मारे फिसल जाता है। वह एक खाई में गिरने लगता है और गिरते-गिरते उसके हाथ में एक पेड़ की जड़ आ जाती है उसी को पकड़कर वह लटक जाता है। रात ज्यादा है, घनघोर अंधेरा है, नीचे अथाह खाई दिखती है। सर्द रात है जिसके कारण उसके हाथ ठिठुरने लगे हैं... वह अब गिरा कि तब गिरा। परमात्मा को याद करने के लिए जब ऊपर देखता है तो जिन जड़ों को पकड़कर वह लटका है उन जड़ों को दो चूहे काट रहे हैं। एक काला और दूसरा सफेद रंग का चूहा जड़ कुतर रहे हैं। कब यह जड़ चूहे काट देंगे और कब यह गिरकर मर जाएगा... जैसे ही वह ऊपर यह दृश्य देखता है उसका मुंह अवाक रह जाता है और जब मुंह खुलता है तो उसके मुंह में शहद की बूंद टपक पड़ती है। ऊपर मधुमक्खी का छत्ता लगा हुआ होता है और फिर तो वह शहद का मजा लेने लगता है कि अहा! कितनी मीठी शहद है और उस मिठास का आनंद लेता है और भूल ही जाता हैं कि जिस जड़ को पकड़कर वह लटका हुआ है उसी जड़ को चूहे काट रहे हैं। ऊपर शेर दहाड़ रहा और नीचे भयंकर खाई है।

सब तरफ मौत से घिरा हुआ... हमारा जीवन ठीक ऐसा ही है। ये सफेद चूहा दिन का प्रतीक है और काला चूहा रात का प्रतीक है। कालचक्र के ये दो पहिए, रात और दिन हमारे जीवन को काटे चले जा रहे हैं और हम वासनाओं की मिठास में ऐसे भूल जाते हैं कि जैसे मौत कभी आएगी ही नहीं! आशा में जिए चले जाते हैं! कैसा विचित्र है ये जीवन, अंग गल गए हैं, बाल सफेद हो गए हैं, मुंह में एक

भी दांत नहीं, ऐसा वृद्ध जो छड़ी पकड़कर चलता है फिर भी आशा के पिण्ड से बंधा हुआ है। आशा हमें बाहर उलझाए रखती है कि और थोड़ा सा सुख भोग लें, बड़ी इन्द्रधनुषीय दुनिया लगती है। थोड़ा और बाहर जी लो, अभी हमारी उम्र ही क्या हुई है, साठ साल की ही तो उम्र है, आजकल अस्सी–नब्बे साल लोग जीते हैं। हमारी तो तीस साल उम्र बाकी है और जरा भोग लिया जाए, और जरा आनंद ले लिया जाए। जैसे–जैसे वृद्ध होते जाते हैं, जैसे–जैसे क्षमता कम होती जाती है वैसे–वैसे जीने की उत्कट आकांक्षा जन्मती है। और रंगीन मिजाज पैदा होता जाता है। वासना का तूफान और जोर से उमड़ने लगता है, मन और–और जवान होने लगता है, ये है हमारे जीवन जीने की पद्धति। आशा के पिण्ड से हम बंधे हुए हैं, मन बाहर उलझाए हुए है, मौत बाहर खड़ी हुई है बिल्कुल करीब लेकिन हम खिलौनों में उलझे हैं। तृष्णाओं के खिलौनों में, कामनाओं के खिलौनों में।

किसी शायर ने कहा है–

करीब मौत खड़ी है, जरा ठहर जाओ,

खिजां से आंख लड़ी है, जरा ठहर जाओ।

इधर हयात, उधर मौत, सामने तुम हो,

ये कशमोकश की घड़ी है जरा ठहर जाओ।

फिर इसके बाद कभी हम न तुमको रोकेंगे,

लबों पे सांस अड़ी है जरा ठहर जाओ।

करीब मौत खड़ी है जरा ठहर जाओ।

इस सूत्र के संबंध में परमगुरु ओशो क्या कहते हैं, आइए हम सुनते हैं–

'आशा समझ लेने की बात है। आशा है क्या? जो नहीं है, वह मिलेगा—इसकी भ्रांति। जो नहीं है, वह कभी होगा—इसका सपना आशा है।

और आशा से जागना क्या है? जो है, उसका बोध। जो है, उसके प्रति जाग जाने में आशा टूट जाती है। और जो नहीं है, उसकी मांग में आशा बनी रहती है। गरीब भी आशा में जीता है, अमीर भी आशा में जीता है।

मरने के आखिरी क्षण तक भी आशा नहीं छूटती। तुम मर जाते हो, आशा नहीं मरती। मरते-मरते भी आशा सजग रहती है—जीती है, जवान रहती है। मरने वाला आदमी भी सोचता है: कल सब ठीक हो जाएगा। मरते-मरते भी कल का सपना

देखता रहता है। सपने देखते-देखते ही लोग मरते हैं।

अंग गल गए हैं, बाल सफेद हो गए हैं, मुंह में एक दांत नहीं; ऐसा वह वृद्ध छड़ी पकड़ कर चलता है। फिर भी वह आशा के पिंड से बंधा हुआ है। आशा धागा है, जिसके सहारे हम जीते हैं। बड़ा महीन धागा है, कभी भी टूट सकता है, लेकिन टूटता नहीं। मजबूत से मजबूत जंजीर बन गया है। एक तरफ से टूटता है तो हम दूसरी तरफ से सम्हाल लेते हैं। अगर संसार से भी टूट जाता है तो हम मोक्ष की आशा करने लगते हैं, स्वर्ग की आशा करने लगते हैं। आशा जारी रहती है। आशा संसार से भी बड़ी है। संसार छूट जाए, टूट जाए, संसार का दुख दिखाई पड़ जाए, तो आदमी स्वर्ग की आशा करने लगता है। आशा चलती रहती है। तुम थक जाते हो, गिर जाते हो, आशा घसीटती चली जाती है।

तुम्हें भी कई बार सवाल उठा होगा—राह के किनारे किसी भिखमंगे को न हाथ हैं, न पैर हैं, न आंख हैं, शरीर गल रहा है—कभी तुम्हें भी सवाल उठा होगा: क्योंकि जीए जा रहा है? अब क्या है जीने को? लेकिन ऐसा मत सोचना कि यह गलती वही कर रहा है; अगर यही दशा तुम्हारी भी आ जाए तो तुम सोचो, क्या करोगे? फिर भी तुम जीओगे। तुम किसी चमत्कार की आशा करोगे—कि कौन जाने, कल सब ठीक हो जाए! आदमी कितने ही दुख को स्वीकार कर लेता है, फिर भी जीए जाता है।

एक बहुत अनूठी घटना तुमसे कहना चाहता हूं: आदमी दुख में तो आशा छोड़ता ही नहीं, कितना ही दुख हो। तर्कतः ऐसा लगता है कि दुख आशा को तोड़ देगा। नहीं लेकिन, दुख आशा को नहीं तोड़ पाता; जितना दुखी आदमी होता है, उतनी ही बड़ी आशा करता है। दुख आशा को जगाता है, तोड़ता नहीं। हां, सुख में कभी-कभी आशा टूट जाती है, लेकिन दुख में नहीं टूटती। इसलिए तो राजपुत्र—महावीर, बुद्ध—उनकी आशा टूट गई; भिखमंगों की नहीं टूटती। जैनों के चौबीस तीर्थंकर राजपुत्र हैं, बुद्धों के चौबीस बुद्ध राजपुत्र हैं, हिंदुओं के सब अवतार राजपुत्र हैं। क्या कारण होगा? सुख में आशा टूट जाती है, दुख में नहीं टूटती।

यह बड़ी विडंबना है। लगता ऐसा है कि दुख में टूटनी चाहिए। जब आदमी इतने दुख में है, तो क्यों नहीं छोड़ देता आशा को? लेकिन जितना ज्यादा दुख होता है, उतना ही मन आशा पैदा करता है। दुख में आशा खिलती है, उसका अंकुरण होता है। लेकिन सुख में टूट जाती है।

इसलिए जितना सुखी समाज हो, उतना धार्मिक हो जाता है। और जितना दुखी समाज हो, कम्युनिस्ट हो सकता है, धार्मिक नहीं हो सकता। अमेरिका में संभावना है कि धर्म का उदय हो, भारत में नहीं। कभी भारत में धर्म का उदय हुआ था; वे बड़े सुख के दिन थे—मुल्क सुखी था; लोग तृप्त थे, संतुष्ट थे—आशा टूट गई।

जब तुम्हारे पास सब होता है, तब तुम्हें दिखाई पड़ता है: सब व्यर्थ है। और यह ठीक भी है, क्योंकि जो तुम्हारे पास नहीं है, उसकी व्यर्थता तुम्हें दिखाई कैसे पड़ेगी? जिसके पास धन है, उसको दिखाई पड़ सकता है कि धन व्यर्थ है। जिसके पास धन नहीं है, उसे कैसे दिखाई पड़ेगा कि धन व्यर्थ है? व्यर्थता दिखाई पड़ने के पहले होना तो चाहिए। जिसके पास ज्ञान है, उसे दिखाई पड़ सकता है कि ज्ञान व्यर्थ है। जिसके पास ज्ञान नहीं है, उसे कैसे दिखाई पड़ेगा कि ज्ञान व्यर्थ है? कोहिनूर तुम्हारे हाथ में हो तो समझ में आ सकता है कि न खा सकते हो, न पी सकते हो, करोगे क्या—व्यर्थ है। लेकिन हाथ में न हो तो सिर्फ सपना है। सपने कभी व्यर्थ नहीं होते। सपने को जांचने का कोई उपाय नहीं है। दुख में आशा जीती है, सघन होती है; सुख में टूट जाती है।'

मित्रों, याद रखना- जिसकी आशा की निद्रा टूटी, वही जागा। संसार बाहर नहीं, भीतर है। घर-परिवार, दुकान-मकान, खेत-खलिहान त्यागने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता। भीतर आशा का स्वप्निल संसार छूटे, मूर्च्छा टूटे, मूढ़ता समाप्त हो; तो संन्यास फलित होता है। आदि शंकराचार्य के वचनों को हृदयंगम करना-अंग गल गए हैं, बाल सफेद हो गए हैं, मुंह में एक दांत नहीं; ऐसा वह वृद्ध छड़ी पकड़ कर चलता है। फिर भी वह आशा के पिंड से बंधा हुआ है। ये वचन किसी और के लिए कहे हैं, ऐसा मत समझना। हमारे-आपके लिए कहे हैं। आज नहीं तो कल, परसों हम इस स्थिति में होंगे। अतः हे मूढ़, सदा गोविन्द को भजो। भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम् मूढ़मते।

हरि ओम् तत्सत्।।